अद्वैत-वेदान्त परम्परा में जीव की संधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन

(The Concept of Jiva in Advait-Vedant Tradition : A Critical Study)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

1989
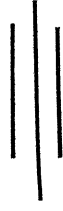
प्रस्तुतकर्त्री

कौमुदी श्रीवास्तव

पर्यवेक्षक

डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव

प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

इलाहाबाद]　　　　[श्रीकृष्णजन्माष्टमी

प्राक्कथन

इस नश्वर संसार में 84 लाख योनियों में उत्पन्न हुए जीवों में से मनुष्य ही एकमात्र ऐसा प्राणी है जो स्वेच्छया कुछ भी कर सकता है। सोचने समझने की क्षमता, बुद्धि के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करना, स्वतन्त्रतापूर्वक काम करना, हँसना, वाणी के प्रयोग से अपनी बातों को स्पष्ट करना यहाँ तक कि यदि वह चाहे तो आत्मसाक्षात्कार के द्वारा जन्म-मरण के इस भव-चक्र से सदा सर्वदा के लिये मुक्त हो जाने की भी सामर्थ्य रखता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस सम्पूर्ण सृष्टि में मानव योनि में जन्म-लाभ एक दुर्लभ उपलब्धि है, अतएव इस जन्म का प्रत्येक क्षण ज्ञानार्जन में व्यतीत किया जाना चाहिए।

मानवमन की जिज्ञासा प्रकृति प्रदत्त है। जीव कैसे उत्पन्न होते हैं? कैसे नाश को प्राप्त होते हैं? मृत्यु के उपरान्त जीव कहाँ जाता है? पुनर्जन्म का निर्धारण कैसे होता है? क्या जीव सदा के लिये इस संसार से मुक्त हो सकता है? इत्यादि अनगिनत प्रश्न हमारी बुद्धि में प्रतिदिन उत्पन्न होते हैं जिनका समाधान केवल दर्शन शास्त्र ही कर सकता है।

दर्शनशास्त्र के प्रति मेरी अपरिमित रुचि है। मेरी इस रुचि को उत्पन्न करने का सम्पूर्ण श्रेय प्रातःस्मरणीय, परमपूज्य मेरे पिताजी एवं परम पूज्या माताजी को है। ईश्वर के प्रति आस्था तो मुझे मेरे जन्म से ही मिली थी। दर्शन शास्त्र सम्बन्धी चर्चाएं घर में नित्य होने के कारण इस विषय को

विस्तृत रूप में ग्रहण करने की इच्छा दृढ़ होती गयी । इस इच्छा की पूर्ति तब हुई जब मैंने 'संस्कृत' विषय में एम0ए0 में प्रवेश लिया । उस समय भारतीय दर्शनों से मेरा परिचय हुआ । जिसमें सांख्ययोग, न्यायवैशेषिक, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा (वेदान्त) हैं। इन सबमें से 'वेदान्त-दर्शन' मुझे अत्यधिक रुचिकर लगा । यही कारण था कि - शोध के लिये मैंने 'अद्वैतवेदान्त' का ही चयन किया । शोध के लिये मैं ऐसा विषय चाह रही थी जो रुचिकर होने के साथ ही साथ व्यावहारिक जगत् से भी सम्बन्ध रखता हो । मेरी इस इच्छा को ध्यान में रखते हुए मेरे पूज्य पिताजी एवं गुरूवर्य डा0 सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव जी ने मुझे " अद्वैत वेदान्त परम्परा में जीव की संधारणा का समीक्षात्मक अध्ययन " विषय पर शोध कार्य करने को कहा ।

ईश्वर की असीम अनुकम्पा से यह शोध-प्रबन्ध पूर्ण हो गया है । पूज्य गुरूवर्य ने अपने अमूल्य समय में से समय निकालकर शोध-कार्य के विषय निर्धारण से लेकर शोधकार्य की जटिलताओं को सुलझाकर उसको पूर्ण करने तक समय-समय पर मुझे जो सुझाव दिये हैं, उसके लिये मैं उनकी जन्मजन्मान्तर तक ऋणी रहूँगी ।

अध्ययन के प्रसङ्ग में जिन विद्वानों के लेखों एवं ग्रन्थों से मुझे सहायता प्राप्त हुई है, मैं उनके प्रति आभारी हूँ । इसके अतिरिक्त इस शोध-प्रबन्ध में जिन-जिन लोगों से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मुझे सहायता प्राप्त हुई है, मैं उनको हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ ।

दिनांक 31-8-89 कौमुदी श्रीवास्तव

संकेत - विवरण

कठोपनिषद्	क0उ0
केनोपनिषद्	केन0उ0
तैत्तिरीयोपनिषद्	तै0उ0
छान्दोग्योपनिषद्	छा0उ0
बृहदारण्यकोपनिषद्	बृ0उ0
माण्डूक्योपनिषद्	मा0उ0
मुण्डकोपनिषद्	मु0उ0
श्वेताश्वतरोपनिषद्	श्वे0उ0
प्रश्नोपनिषद्	प्र0उ0
ऐतरेयोपनिषद्	ऐ0उ0
अद्वैत सिद्धि	अ0सि0
श्री शङ्कर सूक्तिसुधा	श्री श0सू0सु0
सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह	सि0ले0स0
भामतीअध्यासभाष्य	भा0अ0भा0
वेदान्त परिभाषा	वे0प0
पञ्चदशी	पञ्च0
सिद्धान्त बिन्दु	सि0बि0

पञ्चपादिकाविवरण	प०पा०वि०
शाङ्करवेदान्त तत्वमीमांसा	शा०वे०त०मी०
वेदान्तसुधा	वे०सु०
दशश्लोकी	दशश्लो०
भामतीतथा विवरणप्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन	भा०तथा वि०प्र० का तु०अ०
विवरण प्रमेय सङ्ग्रह	वि०प्र०स०
वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली	वे०सि०मु०
बिन्दु प्रपात	बि०प्र०
वेदान्त कल्पतरु	वे०क०
भामती	भा०
अद्वैत वेदान्त	अ०वे०

विषयानुक्रम

विषय	पृष्ठ संख्या

विषय	पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

विषय - प्रवेश

अद्वैतवेदान्त भारतीय दार्शनिक चिन्तन पद्धति का चूडान्त निदर्शन है । वैदिक मनीषा का प्रस्फुटन जिस परा सत्ता के लिये ' एकंसद्विप्रा बहुधा वदन्ति ' के रूप में हुआ था । उसके स्वभाव स्वरूप और प्रतीयमान क्रियाकलापों का विवेचन उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है । उपनिषदों में अपनी सरल सुबोध एवं संवादात्मक शैली में उस तत्त्व को बोधगम्य कराने की चेष्टाओं को मूर्तरूप दिया गया है । विविध ववो भंगिमाओं से भिन्न-भिन्न उपनिषदों में उसी परमतत्त्व का स्वरूप बताया और समझाया गया है । समस्त जागतिक क्रियाओं पदार्थों और उनकी विविध परिणतियों को सर्वं खल्विदं ब्रह्म,तज्जलानिति§छा03/14/1§ इत्यादि मंत्रों के माध्यम से निरूपित करने का अथक प्रयास उपनिषदों में परि-लक्षित होता है । उपनिषदों में आत्मा या ब्रह्म नाम से अभिहित होने वाली उस परम सत्ता को अनुभूयमान समस्त प्रपञ्च के मूल रूप से स्वीकृत किया गया है । उसी तत्त्व को सर्वत्र व्याप्त और सब का कारणभूत बताया गया है ।केनोपनिषद् के 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसं-विशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म -' इत्यादि मन्त्र जगत् की ब्रह्म मूलकता, ब्रह्ममयता और ब्रह्म की गन्तव्यता का स्पष्ट उद्घोष करते है । इस ब्रह्म या आत्म तत्त्व के साक्षात्कार से ही सकल दु:ख निवृत्ति रूपी मुक्ति का दिव्य एवं अमोघ सन्देश भी उपनिषदों में पदे-पदे दिया गया है । आत्मसाक्षात्कार की अचूक विधि भी बृहदारण्यकोपनिषद् में " आत्मा वाऽऽरे द्रष्टव्य:श्रोतव्य: मन्तव्य: निदिध्यासितव्य: " इत्यादि मन्त्रों के रूप में प्रतिपादित हुई है ।

वेदों का अन्तभाग होने के कारण उपनिषद् ही ' वेदान्त 'नाम से जाने जाते हैं । इसीलिये उपनिषदों का दर्शन ही वेदान्त-दर्शन कहा गया है । उपनिषदों में संख्या की अधिकता के कारण,संक्षिप्त पदावली के प्रयोग की पद्धति अङ्गीकृत होने के कारण और प्राधान्य तथा अप्राधान्य की दृष्टि से तत्त्व की एकरूपता और अनेकरूपता दोनों का यथावसर प्रतिपादन होने के कारण परवर्ती वेदान्तियों ने अपनी-अपनी बौद्धिक और यौक्तिक क्षमता के अनुसार तत्त्व की संख्या के आधार पर अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत/शुद्धाद्वैत,द्वैत,अविभक्ताद्वैत इत्यादि अनेक प्रस्थानों का प्रवर्तन किया । इतिहास साक्षी है कि इन नाना प्रकार के वेदान्त-मतों से शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिष्ठापित अद्वैत-वाद ही काल-जयी सिद्ध हुआ । उपनिषदों को अपने सिद्धान्तों का मूल उत्स स्वीकृत करने के साथ-साथ आचार्य शङ्कर ने गौडपाद की माण्डूक्यकारिका और ब्रह्मसूत्र के ' आभास एवं च ' आदि सूत्रों के द्वारा अपनी मान्यताओं को वांछनीय रूप से पैनी बनाया है । यह कहना कि अपनी युक्तियों और तर्कपद्धतियों में शङ्करा-चार्य शून्यवाद और विज्ञानवाद सरीखे बौद्ध दर्शनप्रस्थानों से सर्वथा अप्रभावित रहे हैं- इतिहास एवं तथ्यपरकता दोनों को झुठलाना होगा ।वास्तविकता यह है कि मूल तत्त्व शङ्कर ने उपनिषदों से लिये हैं ।तर्कपद्धति भी उनकी अपनी है किन्तु बाह्यार्थ खण्डन एवं जगत् की मायामयता के प्रतिपादन में उन्होंने आवश्यकतानुरूप अन्य स्रोतों का भी अपना प्रक्रिया में उपयोग किया है । इसका यह अभिप्राय नहीं होता कि शङ्कर प्रच्छन्नबौद्ध थे अथवा उन्होंने बौद्धमत का समर्थन किया ।प्रत्युत किसी मत का समुचित खण्डन करने के लिए उसमत में प्रयुक्त पदावलीवाक्यावली और तर्कपद्धति का उपयोग तो आवश्यक हो जाता है ।

आचार्य शङ्कर ने जगत् में आत्मा और अनात्मा दो प्रकार के पदार्थों की उपलब्धि स्वीकृत की है । उन्होंने अनात्म पदार्थों की तो दृष्टनष्ट स्वरूप होने के कारण मिथ्या सिद्ध कर दिया किन्तु आत्मा या चेतन पदार्थों को परमार्थसत् ब्रह्म ही माना है । फलत: जीव की नित्यता और ब्रह्म की नित्यता स्वीकृत होने के कारण अद्वैत की अवधारणा में ही संशय होने लगता है और द्वैत की प्रसक्ति का भय उपस्थित हो जाता है । इसलिये इस प्रातीतिक द्वैत का निरसन शङ्कर का प्रधान प्रतिपाद्य हो जाता है । इस समस्या का समाधान भी आचार्य शङ्कर बड़ी उत्कृट रीति से किया है । अनेक लौकिक दृष्टान्तों का उपयोग करते हुए जीव और ब्रह्म का ऐक्य और अभेद उन्होंने सिद्धान्तित किया है । जीव की प्रतीयमान अल्पज्ञता, अक्षमता, जन्ममरणरूपबन्धग्रस्तता और मुक्ति-सभी की समीचीन संगति अद्वैतवाद की छत्रछाया में बिठाना शङ्कराचार्य का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था । इसमें उनकी अनुपम सूझबूझ और समर्थ तर्क प्रणाली का विलक्षण विनियोग हुआ है । शङ्कर ने अद्भुत सफलता के साथ जीव को ब्रह्म की सहज भूमिका में सदासर्वदा के लिये प्रतिष्ठित कर दिया । मानवीय प्रतिभा की यह पराकाष्ठा थी ।

इसी सन्दर्भ का साङ्गोपाङ्ग निरूपण और विशद् तथा बोधगम्य विवेचन परवर्ती शङ्करानुयायी आचार्यों ने बड़ी कुशलता और मनोयोग से करने की चेष्टा की है । सुरेश्वराचार्य ने इस प्रक्रिया में आभासवाद का आश्रय लिया । जीव को इन्होंने ब्रह्म का आभास बताया और तदनुसार जीवब्रह्मसम्बन्धों का अद्वैतपर्यवसायी निरूपण किया । इन्होंने आभास के मिथ्यात्व के आधार पर जीव के जीवत्व के बाधित होने पर ही प्रत्यगात्मब्रह्म का अभेद प्रतिपादित किया ।

इस मत में समष्टिरूपा माया में ब्रह्म का आभास ईश्वर और व्यष्टिरूपाअविद्या में ब्रह्म का आभास जीव बताया गया है । प्रस्तुत प्रसंग में वाचस्पतिमिश्र ने अवच्छेद की कल्पना प्रस्तावित की है । इनके अनुसार अन्त:करण से अवच्छिन्न चैतन्य जीव और अविद्या से अवच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है । इस प्रकार जीव की उपाधि अन्त:करण और ईश्वर की उपाधि अविद्या है । अवच्छेदवाद में जीव ब्रह्म का सम्बन्ध घटाकाश और महाकाश के दृष्टान्त द्वारा अभिव्यक्त किया गया है । तदनन्तर सर्वज्ञात्ममुनि ने इस सन्दर्भ में प्रतिबिम्बवाद का सिद्धान्त अपनाया । इनकी दृष्टि में जीव और ईश्वर दोनों ब्रह्म के प्रतिबिम्ब हैं । माया में प्रतिबिम्बित होने पर वह ईश्वर कहा जाता है और अन्त:करण में प्रतिबिम्बित होने पर उसे जीव कहते हैं । इस मत में ब्रह्म ही बिम्ब है । जीव तथा ईश्वर दोनों उसके प्रतिबिम्ब हैं । विवरणसम्प्रदाय भी प्रतिबिम्बवाद का ही समर्थक है । अन्तर केवल यह है कि इस मत में ईश्वर ही बिम्ब है न कि ब्रह्म, और जीव उस ईश्वर के प्रतिबिम्ब हैं ।

जीव विषयक इस प्रमुख विवेचन के साथ साथ जीव के एकत्व और अनेकत्व का भी विचार शाङ्कर मत में बड़े ढंग के साथ किया गया है । इतना ही नहीं जीव की बद्ध एवं मुक्त अवस्थाओं का विवेचन और उसकी ऐहिक-आमुष्मिक गतिविधियों का साकल्येन निरूपण भी अद्वैत-वेदान्त का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय रहा है ।

इस शोधप्रबन्ध में अद्वैत धारा के अन्तर्गत जीव विषयक इन समग्र अवधारणाओं का सुस्पष्ट एवं वर्गीकृत स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । तत्त्वदर्शन की पराभूमिका में प्रतिष्ठित अद्वैतवेदान्त की दुरूहता स्वाभाविक

है । फलत: उसे बोधगम्य और विश्वसनीय रूप में उपस्थित करने का दायित्व बड़ा कठोर है । तथापि इस कार्य की अपरिहार्यता एवम् उपादेयता से प्रेरित होकर इसमें संलग्न होने का यथामति प्रयास करना सर्वथा समीचीन ही माना जाना चाहिए ।

द्वितीय अध्याय

उपनिषदों की जीव - विषयक संधारणा

उपनिषदों की जीव-विषयक संधारणा

इस दृश्यमान् जगत् में जीवजडात्मक रूप से जो कुछ भी भासित होता है वह सब ब्रह्म ही है; इस तथ्य का समर्थन यह श्रुति करती है ' सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।' इस प्रतीयमान जगत् -प्रपञ्च को दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है । एक ' चेतन ' अंश और दूसरा ' जड ' अंश । संसार में जो कुछ दृष्टिगत होता है,वह विकृत रूप वाला ' जडअंश ' है अत: अनित्य और नश्वर है । इसके अतिरिक्त दिखायी न पड़ने वाला ' चेतन अंश ' अविकारी नित्य अर्थात् सार्वकालिक है । अज्ञान एवं तज्जन्य अन्त:करण रूपी उपाधियों से उपहित या अवच्छिन्न ' परमात्मा ' ही ' जीव ' है । इन उपाधियों में आत्मभाव रखने के कारण ही ' जीव ' को ' जीवत्व ' प्राप्त होता है । स्वरूपज्ञान हो जाने पर जीव के जीवत्व की निवृत्ति हो जाती है ।

परमात्मा का जीवरूप से शरीर में प्रवेश

' एकोऽहं बहुस्याम् ' तथा ' बहुस्याम् प्रजायेयेति '[1]-इस श्रुतिवाक्य में एक से बहुत होने की इच्छा के कारण ब्रह्म अर्थात् परमात्मा ने आकाशादि

1- सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेयेति । तै०उ० 2/6/।

महाभूतों की तथा क्षुधादि से युक्त विभिन्न शरीरों की क्रमानुसार सृष्टि की। सृष्टि के अनन्तर वह परमात्मा प्राणियों के 'मूर्द्धा' को विदीर्ण करके प्रविष्ट हो गया[1]। विदीर्ण किये जाने के कारण वह द्वार 'विदृति' नाम से प्रसिद्ध है। यह द्वार परमात्मा का 'प्रवेश द्वार' होने के कारण आनन्दप्रद है। परमात्मा 'जीवसंज्ञा' प्राप्त कर लेने पर अपनी अभिव्यक्ति तीन स्थानों में अवस्थित होकर करता है - जाग्रत् काल में जब जीव 'विश्व' संज्ञा को प्राप्त होता है तो 'दक्षिण नेत्र' रूप द्वार में रहता हुआ उपलब्ध होता है स्वप्नकाल में जब जीव की 'तैजस्' संज्ञा होती है तब वह मन के भीतर रहता है और सुषुप्तिकाल में 'प्राज्ञ' संज्ञक जीव हृदयाकाश में अवस्थित हुआ उपलब्ध होता है। इस प्रकार एक ही जीवात्मा शरीर में तीन प्रकार से स्थित है[2]। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन स्वप्न हैं। इन तीनों ही अवस्थाओं में जीव को आत्मस्वरूप का बोध नहीं हुआ रहता है, वह जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में अविद्या के कारण सुख - दुःखादि को भोगता है। यद्यपि सुषुप्तिकाल में वह सुख-दुःख का अनुभव नहीं करता है, फिर भी जागने पर तो उसका अनुभव होता ही है। यही कारण है इन तीनों अवस्थाओं को 'स्वप्न' संज्ञा देने का।

सृष्टि के प्रारम्भ में एक बार 'जीवों' की सृष्टि हो जाने पर बारम्बार विविध योनियों में जन्म ग्रहण करने वाले अविद्याग्रस्त 'जीव' के तीन

1- स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। ऐ0उ0 1/3/12;

2- "सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्।
तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः --ऐ0 उ0 1/3/12;

निवासस्थान ये भी कहे जा सकते हैं, इन्हीं तीन स्थानों से ही जीवों की अभिव्यक्ति होती है । ये तीन स्थान ये हैं --(1) पितृदेह,(2) मातृगर्भाशय और (3) अपना शरीर । जीव बाह्य अनित्य दृष्टि रूप उपाधि को आत्मभाव से प्राप्त होकर ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त देवता,पशुपक्षी और मनुष्यों की योनियों में बारम्बार चक्कर लगाता हुआ अविद्या कामना और कर्म के अधीन होकर (जन्ममरण रूप) संसार को प्राप्त होता है । जीव सर्वप्रथम पुरुष के शरीर में रेतस् रूप में रहता है । पुरुष रेत: सिञ्चनकाल में जीव को 'गर्भरूप ' से उत्पन्न करता है । रेतो रूप से अपने स्थान से निकलना ही जीव का प्रथम जन्म है । ' पुरुष का शरीर ' ही जीव का प्रथम निवास स्थान है । जन्म के पूर्व 'माता का गर्भाशय ' ही जीव का दूसरा निवास स्थान है । जन्म होने के पश्चात् उसका ' अपना शरीर ' तीसरा निवास स्थान है ।

जीव का शुक्ररूप से पिता के शरीर से निकलना ही प्रथम अवस्था की अभिव्यक्ति है[1]। कुमार रूप से माता के उदर से बाहर निकलना ही जीव की द्वितीयावस्था की अभिव्यक्ति है[2]। पिता और पुत्र की एकात्मता होने के कारण पिता के इस संसार से मर कर चले जाने पर दूसरे जन्म में कर्मफलोपभोग के निमित्त अन्य शरीर धारण करके पुन: उत्पन्न होना ही इस संसारी जीव की तृतीयावस्था की अभिव्यक्ति कही जाती है[3]।

1- पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति ।यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म । ऐ०उ० 2/1/1

2- यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां संतत्या । एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म । वही 2/1/3

3- स इत: प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म । वही 2/1/4

इस प्रकार से शरीरों में जीवरूप से प्रविष्ट होकर परमात्मा देशकालादि से परिच्छिन्न प्रतीत होने लगा । इस प्रकार जगत् में परमात्मा की प्रतीति चेतन जीवरूप में तथा अचेतन जीवशरीरादि के रूप में होने लगी । यहाँ यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि जीव स्वभावत: चेतन सत्य है तथा उसका शरीर अचेतन एवम् असत्य या मिथ्या है । इसी कारण ब्रह्म का जीव-भाव प्रतिपादित करते हुए तैत्तिरीय श्रुति कहती है कि " उस जीवशरीर में अनुप्रविष्ट होकर ब्रह्म सत्यरूप तथा त्यद्रूप दोनों हो गया; मूर्त तथा अमूर्त दोनों हो गया ; चेतन एवं अचेतन दोनों हो गया ; सत्य और अनृत दोनों हो गया ।" ब्रह्म की यही द्विरूपापत्ति ही आगे चलकर अद्वैत परम्परा में सत्यानृतमिथुनीकरण के नाम से प्रतिपादित की जाने लगी[1]।

छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित परमात्मा की जीवरूपापत्ति का स्वरूप इस प्रकार है मैं चैतन्य-स्वरूप आत्मा से अभिन्न जीवरूप से शरीरों में प्रवेश करके अर्थात् तेज,अप् और अन्न इन के संसर्ग से ही विज्ञानवान् मैं नाम और रूप को पृथक् करूँ अर्थात् यह प्राणी (जीव) इस नामवाला तथा इस रूप वाला है[2]। बृहदारण्यकोपनिषद् का कथन है कि पहले दो पैरों वाले,तत्पश्चात्

1- सत्यानृते मिथुनीकृत्य ' अहमिदं ' 'ममेदम् ' इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहार:। अध्यास भाष्य पृ03

2- अहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि । छान्दोग्य उपनिषद् 6/3/2 ;

चार पैरों वाले प्राणियों को रचकर पक्षी होकर उनके शरीरों में ही प्रविष्ट हो गया[1]। यहाँ ' पक्षी ' का तात्पर्य प्राणियों के स्थूल शरीर में स्थित ' लिङ्ग शरीर ' से है ।यह नामरूप से पृथक् करने वाला व्याकर्ता जीवरूप से पूरे शरीर में विद्यमान है[2]।

उपनिषदों में वर्णित सृष्टि के उपरान्त परमात्मा का जीवरूप से अनुप्रवेश का अर्थ यह नहीं समझा जाना चाहिए कि जैसे लोक में किसी एक वस्तु में दूसरी वस्तु का प्रवेश होता है उसी प्रकार ब्रह्म का शरीर में प्रवेश हुआ होगा वस्तुत: यह स्थिति सृष्टि के आदिकाल में सम्भव नहीं हो सकती थी क्योंकि ब्रह्म भिन्न अन्य कोई वस्तु थी ही नहीं जिसमें ब्रह्म का प्रवेश हो सकता,तो फिर इस वर्णन का अभिप्राय क्या लिया जाना चाहिए ? इसका अभिप्राय केवल यही हो सकता है कि दर्पण में प्रतिबिम्ब रूप से प्रविष्ट हुए पुरुष के समान तथा जल में पड़े हुए सूर्यादि के प्रतिबिम्ब के सदृश व्याकृत कार्य में आत्मा का प्रतिबिम्ब के समान उपलब्ध होना ही परमात्मा का जीवरूप से शरीररूप कार्य में प्रवेश है ।जगदुत्पत्ति से पूर्व जो आत्मा उपलब्धि के साधन के अभाव में उपलब्ध नहीं व्यक्त कार्यजगत् की रचना हो जाने पर बुद्धि के भीतर जीवरूप से भासित होने लगा । इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि बुद्धि रूप अन्त:करण में प्रतिबिम्बित चैतन्य ' जीव ' परमात्मा का आभास मात्र ही है ।

1- पुरश्चक्रे द्विपद: पुरश्चक्रे चतुष्पद:पुर:सपक्षी भूत्वा पुर: पुरुष आविशदिति । बृ0उ0 2/5/18 ·

2- स एष इह प्रविष्ट: ।आनखाग्रेभ्यो···। वही 1/4/7

जीव का भोक्तृत्व

अविद्या, काम और कर्म की वासनाओं के आश्रय रूप देह एवं इन्द्रिय रूप उपाधि वाला और इनमें अभिमान रखने वाला आत्मा ही 'संसारीआत्मा' या 'जीव' कहा जाता है [1]। यह जीव अज्ञानवश स्वरूप-विस्मृति के कारण स्वयं को कर्मों का कर्ता और भोक्ता समझकर सुख-दुःख का अनुभव करता है । जीव का यह 'जीवत्व' वास्तविक न होकर उपाधिगत ही होता है । जीव ब्रह्म का आभासमात्र ही है, वह बुद्धि आदि भूतमात्राओं के संसर्ग से उत्पन्न होता है अर्थात् बुद्धि में प्रतिबिम्बित चेतन ब्रह्म ही 'जीव' की संज्ञा प्राप्त करता है, उस समय जडबुद्धि चेतनवत् चलायमान सी प्रतीत होती है । इन बुद्धिगत और शरीरगत अनुभवों को 'जीव' स्वरूप-विस्मरण के कारण स्वयंगत समझकर उनसे सुखी तथा दुःखी होता रहता है । उस समय वह यह सब भूल जाता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तथा 'अचिन्त्य एवं अनन्त शक्ति से युक्त हूँ, ' मैं कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व से सर्वथा रहित हूँ ।'

श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार-जीव अविद्या के वशीभूत होने के कारण अपने को ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व धर्मों से युक्त समझने वाला, कर्मों को करने वाला तथा स्वयं उन कर्मों के फलों को भोगने वाला भी होता है । भोग करने के निमित्त ही उसे बारम्बार इस संसार में आकर जन्म-मरण रूप कष्ट को भी भोगना होता है, तथा विभिन्न शरीरों की प्राप्ति भी उसे कर्मों के अनुसार

1- अविद्याकामकर्मवासनानामाश्रयो लिङ्गमुपाधिर्यस्याऽऽत्मनः सजीवः ।
मु०उ०, आनन्दगिरि टीका 3/1/1

ही होती है । अत: प्राणों के स्वामी इस ' जीव ' का संसार में आवागमन कर्मों के द्वारा ही निर्धारित होता है । सत्त्व, रजस् और तमस् - ये तीनों गुण भी जीव के निमित्त ही कार्य करते हैं, वह इनसे युक्त होता है[1]। 'पुण्डरीकाकार हृदय ' भी जीव का निवासस्थान है[2]। ज्योति: स्वरूप, संकल्प और अहङ्कारादि बुद्धिगत गुण तथा जरा और मृत्युरूप शरीरगत गुणों से युक्त, अङ्गुठे के परिमाण वाला ' जीव 'होता है, आराग्रमात्र अन्य जीव भी देखा गया है[3]। जीव को अङ्गुष्ठपरिमाण वाला कहने का कारण यह है कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित चेतन अंश ही ' जीव ' कहा जाता है और हृदय बुद्धितत्त्व की वासस्थली है, और चूंकि हृदय का आकार मनुष्य के अङ्गुठे के आकार के बराबर होता है, इसलिये 'जीव ' का परिमाण भी ' अङ्गुष्ठमात्र ' ही कहा गया है ।जीव का लिङ्गशरीर अत्यन्त सूक्ष्म होता है, क्योंकि उसका निर्माण पञ्चभूतों के सूक्ष्म अंश से हुआ रहता है । यही कारण है स्थूल नेत्रों से उसके दृष्टिगत न होने का ' आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट: ' में आये ' अपरोऽपि ' शब्द से ' अनेक जीवों ' का होना भी लक्षित होता है ।

1- गुणान्वयो य:फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
सविश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिप:संचरतिस्वकर्मभि: ।।
श्वे0उ0 5/7

2- हृदि ह्येष आत्मा । प्र0उ0 3/3/6
' यो यं विज्ञानमय:प्राणेषु य एषो न्तहृदय आकाशस्तस्मि छेते '
बृ0उ0 4/4/22

3- अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप: सङ्कल्पाहङ्कार समन्वितो य: ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरो पि दृष्ट: ।।

श्वे0उ0 5/8

कठोपनिषद् में भी जीवात्मा को अङ्•गुष्ठ मात्र ही बताया गया है । 'अन्त:करणोपाधिक ब्रह्म ' या ' जीव ' हृदयपुण्डरीक में अर्थात् शरीर के मध्य में स्थित है[1]।और अङ्•गुष्ठमात्र पुरूष या जीव निर्धूम ज्योति:स्वरूप है[2] तथा वही लोगों के हृद्देश में स्थित उनका अन्तरात्मा है[3]। यही आत्मा स्थूल और सूक्ष्म विषयों का ' भोक्ता ' कहा जाता है[4]। इस प्रकार शरीरेन्द्रिय रूप उपाधि से परिच्छिन्न,मोक्ष के निमित्त प्रयत्न करने वाले एवं संसार में कर्म करने और उनसे प्राप्त फलों को भोगने के लिये जन्ममरण रूप चक्र में बारम्बार पड़ने वाले संसारी आत्मा को ' रथी ' शब्द से अभिहित किया गया है[5]। रथी अर्थात् रथ का स्वामी रूप भोक्ता जीव अपनी बुद्धिरूप सारथी के द्वारा इन्द्रिय रूप अश्वों को मन रूप लगाम से नियन्त्रित करके सांसारिक विषयभोग रूप मार्ग में रथ रूप शरीर को चलाने के लिये बाध्य होता रहता है । असंयत और अनियन्त्रित बुद्धि से युक्त जीवों को संसार में बारम्बार विविध योनियों में जन्म लेना पड़ता है[6]। इसके विपरीत संयत,विवेकी,समाहित चित्त वाले और सदैव पवित्र रहने वाले जीव मुक्त हो जाते हैं,जिसके फलस्वरूप उनको पुन:

1- अङ्गुष्ठमात्र:पुरूषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । कठोपनिषद् 2/1/12

2- अंगुष्ठमात्र: पुरूषो ज्योतिरिवाधूमक: । वही 2/1/13

3- अङ्गुष्ठमात्र: पुरूषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट: ।
कठ02/3/17

4- आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण: । कठ0 1/3/4

5- आत्मानं रथिनं विद्धि ....। वही 1/3/3

6- यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्क: सदाशुचि: ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारंचाधिगच्छति ।। वही 1/3/7

संसार-प्राप्ति रूप दारुण कष्ट को नहीं भोगना पड़ता है[1]।

कुछ उपनिषदों में जीव की तुलना एक पक्षी से की गयी है । यह पक्षी-संज्ञक जीव लिङ्गशरीरोपाधिवान् होता है और लिङ्गशरीर अविद्या, काम और अनेकों वासनाओं का आश्रय होता है । लिङ्ग देह से युक्त विज्ञानात्मा यह पक्षी संसार में आकर शरीर-रूप वृक्ष में स्थित होकर अज्ञानवश किये गये अनेक सुख-दु:ख रूप कर्म फलों को भोगता है[2]। जीव शरीर केप्रति आत्मभाव रखने के कारण मोहग्रस्त रहता है । अहंता और ममता होने के कारण जैसे 'यह देह मैं हूँ, मैं स्थूल हूँ,मैं कृश हूँ, यह वस्तु मेरी है और मैं ही मरता तथा जन्म लेता हूँ'- इस प्रकार समझता हुआ शोक करता है । जीव सभी प्रकार से अपने को हीन और असमर्थ समझ कर सन्तप्त होता है तथा अज्ञान के संस्कार से युक्त होकर बारम्बार प्रेत,पशु और पक्षी आदि निकृष्ट योनियों में तथा मनुष्य योनियों में जन्म लेकर वैसे ही दु:ख फिर भोगता है[3]। अज्ञान रूपी बन्धन से बंधा होने के कारण ही जीव बद्ध या अमुक्त कहा जाता है ।देहावच्छिन्न परमात्मा ही ' जीव ' संज्ञा वाला हो जाता है । हृदय में स्थित वह जीव वस्तुत: ब्रह्म ही है[4]।जीव स्वयंकृत शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगता है[5]।

1- यस्तुविज्ञानवान्भवति समनस्क: सदाशुचि: ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ।। क0उ0 1/3/8

2- तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्ति· · · ··।। मु0उ0,श्वे0उ0 4/6

3- समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनाशया शोचति मुह्यमान: ।मु0उ03/1/2

4- एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्म ' छा0उ03/14/4

5- (क) ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके:गुहां प्रविष्टौपरमे परार्धे ।क0उ03/1
(ख) यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते । बृ0उ0 4/4/5

कठोपनिषद् में जीव को 'आतप' संज्ञक ईश्वर की 'छाया' कहा गया है[1]।

चेतन आत्मा की अभिव्यक्ति के तीन स्थान हैं अर्थात् तीन अवस्थाओं में प्रकट होकर जीवात्मा विषयों का भोग भोगता है। उपनिषदों में ये तीन अवस्थाएं इस प्रकार हैं :--

§1§ जाग्रत्

§2§ स्वप्न

§3§ सुषुप्ति

इन तीनों अवस्थाओं के अतिरिक्त उपनिषदों में एक चौथी तथा अन्तिम अवस्था का भी वर्णन किया गया है, जिसे 'तुरीय' की संज्ञा दी गयी है[2]। यह अवस्था मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था में जीव का 'जीवत्व' नष्ट हो जाने के कारण वह ब्रह्म रूप में ही स्थित हो जाता है।

जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में जीव को तीन पृथक् संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। जाग्रत् अवस्था में जीव की 'वैश्वानर' संज्ञा होती है। वह अपने से भिन्न बाह्य विषयों में अपनी प्रज्ञा रखता है अत: उसकी अविद्याकृत बुद्धि बाह्य विषयों से सम्बद्ध हुई सी भासती है, इसी कारण यह § वैश्वानर § 'बहिष्प्रज्ञ' कहा जाता है। शिर आदि सात अङ्गों और

1- छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति· · · · ·। क0उ0 1/3/1

2- नान्त: प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयत: प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्य-मेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा सविज्ञेय: ।। मा0उ0मन्त्र 7 ;

इन्द्रियादि उन्नीस मुखों वाला यह जीव है अर्थात् इन स्थूल और सूक्ष्म उपकरणों के माध्यम से यह वैश्वानर संज्ञक जीव शब्दादि स्थूल विषयों को भोगता है[1] इन इन्द्रियों के माध्यम से ही समस्त स्थूल भोगों का भोक्ता होने के कारण जीव को श्रोता, मन्ता स्पृष्टा बोद्धादि कहा जाता है[2]।

जीवात्मा की अभिव्यक्ति की द्वितीय अवस्था ' स्वप्न ' नाम से कही गयी है । इस अवस्था में बाह्य स्थूल विषयों का अभाव होने के कारण तथा स्थूल शरीर से विहीन होने के कारण स्थूल विषयों को भोगने में यह 'तैजस ' संज्ञक जीव असमर्थ रहता है, परन्तु जागरण काल में स्थूल भोगों के भोगने के कारण उसके मन में वैसे ही अर्थात् स्थूल भोग विषयक संस्कार बन जाते हैं । अत: चित्रित वस्त्र के सदृश अनेकों संस्कारों से युक्त हुआ जीव का मन अविद्या कामना और कर्म के कारण बाह्य साधन की अपेक्षा किये बिना जाग्रत् सा भासित होता है । जिस समय यह जीव सोता है सर्वसाधन सम्पन्न इस लोक के, अर्थात् दृष्ट जन्म के संस्कार ग्रहण करता है और अपना स्थूल देह को चेतना-शून्य करके वासनामय देह की रचना करता है और तब स्वप्न देखता है[3]। अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा

1- जागरित स्थानो बहिष्प्रज्ञ: सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुख: स्थूलभुग्वैश्वानर: ।। मा0उ0 मन्त्र 3.

2- एव हि द्रष्टा, स्पृष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता, विज्ञानात्मा पुरुष: । प्र0उ0 4/4/9 .

3- "अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय" बृ0उ0 4/3/9 .

मन अधिक अन्त:स्थ है और 'तैजस' की प्रज्ञा मन की वासना के अनुरूप होने के कारण उसे 'अन्त:प्रज्ञ' कहते हैं । अत: बाह्य विषयों से शून्य वासनारूप सूक्ष्म भोगों का भोक्ता यह 'तैजस' है[1]। स्वप्नावस्था में बाह्य विषयों की वासना रूपा अन्त:करण की वृत्ति ही कर्मों से प्रेरित होकर दृश्यरूप से उपस्थित होती है, क्योंकि रथादि का अभाव होने पर भी वह जीवात्मा रथ और उनके मार्गों की रचना करने में समर्थ हो जाता है[2]। स्वयं न सोता हुआ अन्त:करण की वृत्तियों के आश्रित पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ, शुद्ध ज्योतिष्मान् इन्द्रिय-मात्रारूप को ग्रहण करके वह चैतन्य ज्योति:स्वरूप पुरुष पुन: कर्म करने के लिये जागरित स्थान में अकेला ही चला जाता है ।अकेला विचरण करने वाला ज्योति: स्वरूप पुरुष स्वप्नकाल में स्थूल शरीर की प्राणों के द्वारा रक्षा करता है,- क्योंकि उसे उसी शरीर में पुन: आना होता है- और फिर इच्छानुसार भ्रमण करता हुआ बहुत से वासनामय रूपों की सृष्टि कर लेता है । कभी आनन्दित होता है और कभी व्याघ्रादि देख लेने पर भयभीत होता है । स्वप्नकाल में

1- स्वप्नस्थानोऽन्त:प्रज्ञ: सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुख:
प्रविविक्तभुक्तैजस: । मा0उ0 मन्त्र 4 ·

2- {क} न तत्र रथा · · · ·रथान् सृजते·· ·· ·स हि कर्ता ।।
बृ0उ0 4/3/1

{ख} स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्या सुप्त: सुप्तानभिचाकशीति ।
शुक्रमादाय पुनरैति स्थानं हिरण्मय: पुरुष एकहंस: ।।
वही 4/3/11 ·

यह जीव ऐसे विचित्र रूपों का निर्माण करता है तथा विचित्र स्थलों का दर्शन करता है, जिनसे उसका साक्षात्कार जाग्रत् काल में कभी नहीं हुआ रहता है। इसका कारण यह है कि जीव या तो उस पदार्थ के सदृश ही किसी वस्तु को जाग्रत् काल में देखे हुए रहता है और या फिर उस वस्तु की कल्पना करके उसका रूप और आकार मन में संस्कार रूप से स्थित कर लेता है। अत: यह 'तैजस' संज्ञक ज्योति:स्वरूप पुरुष यथाकाम रूपों और दृश्यों के निर्माण में समर्थ होता है। स्वप्नकाल में समस्त इन्द्रियाँ, अपने से उत्कृष्ट और कारण रूप इन्द्रिय 'मन' में एकरूप हो जाती हैं, जिससे श्रवणादि का अभाव हो जाता है[1]। तब 'तैजस' संज्ञक पुरुष लौकिक व्यवहार न करते हुए अपनी महिमा का अनुभव करता है[2] अर्थात् जो कुछ भी वह करना चाहता है उसे करने के लिये स्वतन्त्र होता है। जाग्रत्काल में जिन्हें करने में वह अपने को असमर्थ और अयोग्य पाता है, उसको भी स्वप्न में पूरा कर लेता है।

आत्माभिव्यक्ति की तृतीय अवस्था 'सुषुप्ति' कही गयी है। इस अवस्था का अभिमानी जीवात्मा 'प्राज्ञ' कहा जाता है। सुषुप्तिकाल में सोया हुआ पुरुष, जाग्रत् और स्वप्न दोनों स्थानों में विविध रूपों में मन के द्वारा स्फुरित होने वाला द्वैतप्रपञ्च अपने कारणभूत अज्ञान में लीन हो जाने के कारण, न तो किसी प्रकार के भोग की इच्छा करता है और न ही कोई स्वप्न देखता है। इस अवस्था में मात्र अज्ञान की सघनता रहती है। जिस प्रकार घने

1- तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। प्र० उ० 4/2.

2- अत्रैव देव: स्वप्ने महिमानमनुभवति। वही 4/5.

अन्धकार में, अन्धकार के अतिरिक्त उससे पृथक् अन्य कोई वस्तु भासित नहीं होती ठीक उसी प्रकार सुषुप्ति में समस्त स्वप्न और जाग्रत् का ज्ञान आच्छादित हो जाता है और अज्ञान के अतिरिक्त अन्य वस्तु न होने से पृथक्त्व की प्रतीति नहीं होती[1]। जाग्रत् और स्वप्न काल में मन से अनुभूत होने के कारण विषयों से प्राप्त दुःखों का अभाव भी इस काल में हो जाता है अतः आनन्दमात्र का भोग होता है । चित्त के लीन होने के कारण किसी प्रकार की चिन्ता का बोध नहीं होता, जिससे मानसिक विकारों का सम्पर्क नहीं होता अतः कोई ज्ञान नहीं होता सोकर उठने पर ' मैं सुखपूर्वक सोया ' या ' मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं रहा ' ऐसा अनुभव होता है । चेतनारूप मुख वाला यह ' प्राज्ञ ' आनन्द का भोग करता है, जिसका अनुभव उसे सोकर उठने पर ही हुआ करता है[2]। इस अवस्था में जीव स्वरूप को प्राप्त कर लेता है - ऐसा ब्रह्म वेत्ताओं का कथन है क्योंकि इसमें लौकिक विषयों तथा वासना रूप विषयों के दर्शन की वृत्ति का अभाव हो जाता है और ' जीव सत् से सम्पन्न हो जाता है । स्वरूप को प्राप्त होने के कारण इसे ' स्वपिति ' कहते हैं । प्राणों के विज्ञान को ग्रहण करने के समय जीव का ' स्वपिति ' नाम होता है[3]।

1- न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत् । बृ०उ० 4/3/22 ·

2- यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् ।
सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयोह्यानन्द भुक्चेतोमुखः प्राज्ञः ।।
मा०उ० मन्त्र 5·

3- यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम । बृ०उ०2/1/17 ·
एतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति· एनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति । छा०उ० 6/8/1 ·

सुषुप्ति की अवस्था में जीव न तो कोई स्वप्न ही देखता है और न किसी प्रकार के भोग की ही कामना करता है, क्योंकि स्वरूप में स्थित हुए बिना उसकी श्रम-निवृत्ति अन्यत्र कहीं सम्भव नहीं होती है । इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए यह दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है कि सूत्रबद्ध पक्षी उड़कर अन्यत्र विश्राम योग्य स्थान न मिलने पर पुन: अपने बन्धन स्थान का ही आश्रय लेता है, ठीक यही स्थिति जीव की है [1]। मनरूप उपाधि वाला यह जीव जाग्रतादि अन्य दोनों अवस्थाओं में अविद्या, कामना, और कर्म द्वारा उपदिष्ट सुख-दु:ख रूपों को अनुभव करके विश्राम-हेतु स्वात्मा अतिरिक्त अन्यत्र कहीं स्थान न पाकर 'सत्स्वरूप' प्राणों को ही विश्राम का स्थल बनाता है । यहाँ प्राणों को ही मन का बन्धन कहा गया है[2]।

यही विज्ञानमय आत्मा 'हिता' नामक 72 हजार नाड़ियों के द्वारा बुद्धि के साथ शरीर में व्याप्त होकर शयन करता है[3]। इस अवस्था में भिन्नत्व की प्रतीति कराने वाले अविद्या रूप हेतु का नितान्त अभाव हो जाता है अत: यही एक मात्र द्रष्टा है[4]। यहाँ अभाव का अर्थ अत्यन्ताभाव नहीं है बल्कि उसकी प्रतीति न होना ही है अन्यथा मुक्त अवस्था की प्रसक्ति होने लगेगी । अविद्या अर्थात् सांसारिक राग-द्वेष, सुख-दु:खादि की प्रतीति सुषुप्ति

1- स यथा शकुनि सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपाश्रयत एवमेव तन्मनो दिशं दिशं ....। छा0उ06/8/1

2- प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि मन । छा0उ06/8/2.

3- हितानाम नाड्यो द्वासप्तति: सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभि:प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते ।बृ0उ0 2/1/19 .

4- एको द्रष्टाद्वैतो भवति । बृ0उ0 4/3/32 .

में नहीं होता । यह स्थिति काम, धर्माधर्म रहित और अभय होती है[1]। इस अवस्था में जीव की मुक्ति इसलिये नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वस्तुओं का भान भले ही न हो पर अव्याकृत और कारणरूपा 'माया' से तो जीव का सम्पर्क बना ही रहता है और भान न होने का कारण है 'चित्त का अज्ञान में लीन रहना' अविद्या का अत्यन्ताभाव मानने पर तो मुक्त और सुषुप्त पुरूष में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा । इन दोनों में महान् अन्तर यह है कि मुक्त पुरूष की सभी अवस्थाओं से और सभी शरीरों से निवृत्ति हो जाती है, परन्तु 'सुषुप्ति' जीव की ही एक अवस्था है जो बन्धरूपा है ।

यह सुषुप्ति की अवस्था 'सम्प्रसाद' कही गयी है क्योंकि इसमें पुरूष सम्यक् प्रकार से प्रसाद युक्त या प्रसन्न होता है अर्थात् कुछ क्षण के लिये हर्ष-शोकादि की अनुभूति से वह रहित हो जाता है । इसका कारण है माया के अंशभूत 'कारण शरीर' के सहित ही ब्रह्म में जीव का स्थित होना । इस 'सम्प्रसाद' की स्थिति के अनन्तर जीव पुन: स्वप्नस्थान को लौट जाता है[2]। यही उसकी जीवनचर्या का सततप्रवाही क्रम है ।

1- तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति । बृ0उ0 4/3/32,
तद् वा अस्यैतदातिच्छन्दा अपहतपाप्माभय्ँ रूपम् । वही 4/3/21.

2- सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुन:प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययंपुरूष: । बृ0उ0 4/3/15 ;

जीव के उपकरण

जीव शरीर और मन के मिश्रण से युक्त होता है । स्थूल शरीर के माध्यम से ही वह कर्मों को करता है तथा उनके फल भोगता है । जीव परमार्थतः ब्रह्मस्वरूप होने पर भी बाह्य विषयों में आसक्ति रखने के कारण अपने स्वरूप को भूला रहता है और पञ्चतन्मात्राओं से उत्पन्न इस शरीर में आत्मभाव देखता है, उनमें आसक्ति रहने के कारण 'मैं इनसे भिन्न नहीं हूं' इस प्रकार के अभिमान से युक्त होता है । यही कारण है कि ब्रह्मस्वरूप होते हुए भी जीव स्वयं को नहीं पहचान पाता । जीव के ये शरीर तीन प्रकार के कहे गये हैं:-- §1§ स्थूल §2§ सूक्ष्म और §3§ कारण शरीर । इन शरीरों में बाद वालाशरीर पहले वाले शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होता है । इन शरीरों की रचना विभिन्न 'कोशों' के माध्यम से कही गयी हैं । इन्हीं कोशों से आत्मा वेष्टित रहता है । कोश या म्यान के सदृश आत्मा का आच्छादक होने के कारण ही इन्हें 'कोश' का संज्ञा दी गयी है । इन कोशों की संख्या उपनिषदों में पाँच बतायी गयी है :--

§1§ अन्नरसमय

§2§ प्राणमय

§3§ मनोमय

§4§ विज्ञानमय

§5§ आनन्दमय

इन कोशों में सबसे बाह्य कोश 'अन्नरसमय' होता है, यही स्थूल नेत्रों से देखा जा सकता है । यह कोश 'अन्नजल' से निर्मित तथा उसी से पुष्ट

होता है । 'अन्नमय कोश' को ही स्थूल शरीर कहते हैं । जीवों के स्थूल शरीर अन्न और रस ﴾ जल ﴿ के विकार ही है अर्थात् यह शरीर अन्न से ही उत्पन्न होता है अन्न से ही जीवित रहता है । अत: यह पुरुष अन्नरसमय ही है[1]। इस शरीर में ही 'जीव' आत्मभाव रखता है । शरीर के 'स्थूल' तथा 'कृश' हो जाने पर सोचता है कि 'मैं स्थूल हूं' या मैं कृश हूं अथवा कोई अङ्गभङ्ग हो जाने पर अपने को उन अङ्गो से रहित समझता है तथा सुखी और दु:खी होता रहता है । स्थूल शरीर संसार में चार प्रकार के दृष्टिगत होते हैं :--

﴾1﴿ जरायुज - गर्भाशय से उत्पन्न होने वाले,जैसे - मनुष्य और पशु ।

﴾2﴿ अण्डज - अण्डे से उत्पन्न होने वाले,जैसे -पक्षी ।

﴾3﴿ उदभिज्ज - धरती फोड़कर निकलने वाले, जैसे - वृक्ष ।

﴾4﴿ स्वेदज - पसीने से पैदा होने वाले, जैसे - जुए ।

पृथिव्यादि पञ्चभूतों से निर्मित होने के कारण इस शरीर को भौतिक शरीर भी कहते हैं । जाग्रत् अवस्था में स्थूल शरीर सहित सूक्ष्म,कारण शरीर तथा अन्नमय कोश सहित प्राणमय,मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश भी जीव की उपाधि बनते हैं । कारण शरीर और सूक्ष्म शरीर से संयुक्त हुए बिना जीव को स्थूल शरीर की प्राप्ति हो ही नहीं सकती ।

अन्नरसमय कोश अर्थात् स्थूल शरीर से आन्तरिक कोश 'प्राणमयकोश' है[2]। इसी कोश से युक्त होने पर जीव प्राणन क्रिया करते हैं ।प्राण ही प्राणियों का जीवन है इससे ही जीवनी शक्ति मिलती है । प्राणनक्रिया का अर्थ है साँस लेने वाली क्रिया । यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि अन्नमय कोश के

1- स वा एष पुरुषोऽन्न रसमय: । तैत्त0उ0 2/1/1

2- एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय: । वही 2/2/1 ;

द्वारा सम्पादित क्रियाएं अपेक्षाकृत स्थूल होने के कारण जीव के इच्छानुसार सम्पन्न होती हैं अर्थात् जीव जितना चाहे उतना स्थूल क्रियाएं करे जब न चाहे न करे,किन्तु प्राणन क्रिया पर जीव का उतना काबू नहीं है क्योंकि यह क्रिया प्राणमय कोश के माध्यम से सञ्चालित होने के कारण अपेक्षाकृत सूक्ष्म एवम् आभ्यन्तर है । प्राणमयकोश अन्नमय कोष से अवच्छिन्न रहता है । प्राण,अपान, समान,व्यान और उदान - ये पाँच वायु -वाक्,पाणि,पाद,पायु और उपस्थ- इन पाँचों कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर प्राणमय कोश बनाते हैं ।आकाशादि सूक्ष्मभूतों के रजोगुणांश से उत्पन्न हुई इन पाँचों कर्मेन्द्रियों के विषय इस प्रकार हैं - वाक् का विषय है बोलना,पाणि का ग्रहण करना,पाद का चलना, पायु का मलविसर्जन करना और आनन्दभोग उपस्थ का विषय है[1]।

मन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर ' मनोमयकोश ' बनाता है । अन्त:करण की संकल्पात्मक वृत्ति ही मन है[2] और यह मन अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा आन्तरिक इन्द्रिय है । श्रोत्र,त्वक्,चक्षु,रसना तथा घ्राण - ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ आकाशादि सूक्ष्म भूतों के सत्त्वगुणांश से बनी होती हैं ।मनोमयकोश इच्छाशक्ति से युक्त होता है ।मनोमयकोश प्राणमयकोश से अवच्छिन्न तथा आभ्यन्तर होता है[3]।

1- वाक्यं वक्तव्यं च हस्तौ चाऽऽदातव्यं चोपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जनयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च ।प्र०उ० 4/8 ;

2- ' मनश्चमन्तव्यम् ' वही 4/8 ;

3- प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमय: । तै०उ० 2/3/1 ;

मनोमयकोश से सूक्ष्म और आन्तरिक कोश ' विज्ञानमयकोश ' कहलाता है[1]। अन्त:करण की निश्चयात्मिका वृत्ति बुद्धि कहलाती है । विषयों का इन्द्रियों से सम्पर्क होने पर मन के द्वारा संकल्प विकल्प होने पर उस विषय के निश्चय यही ' बुद्धि ' ही करती है[2]। बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर ' विज्ञानमयकोश ' बनती है । बुद्धि सत्वगुण के आधिक्य के कारण ही विषयों का ज्ञान करने में समर्थ होती है । विज्ञानमय कोशावच्छिन्न चिदात्मा ही संसारचक्र में भ्रमण करने वाला ' जीव ' कहा जाता है । कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखी और दु:खी होने का अभिमान रखने के कारण वह इहलोक और परलोक में भ्रमण करता है । जीव का संसारित्व बुद्धिगत ही होता है । बुद्धि सत्वगुणात्मिक होने के कारण चेतन तत्व का प्रतिबिम्ब ग्रहण करके च चल हो उठती है । इन्हीं बुद्धिवृत्तियों के सदृश ही जीव व्यवहार करता है । आत्मा बुद्धि वृत्तियों के भीतर रहने वाला विज्ञानमय पुरुष है[3]। जड बुद्धि में प्रतिबिम्बित चेतन तत्व बुद्धिगत सुख दु:ख रूप धर्मों को स्वगत ही समझता है । प्राणमयकोश, मनोमय कोश तथा विज्ञानमयकोश ये तीनों कोश मिलकर जीव के ' सूक्ष्मशरीर ' के नाम से कहा जाता है ।

1- मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय: । तै0उ0 2/4/1 ;

2- ' बुद्धिश्च बोद्धव्यं ' प्र0उ0 4/8 ;

3- ' अयं विज्ञानमय: प्राणेषु हृद्यन्तज्योति: पुरुष: स समान: सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ' बृ0उ0 4/3/7 ;

स्वप्नावस्था में जीव केवल सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर से ही सम्बद्ध रहता है । सूक्ष्मशरीर सत्रह तत्वों से बना है - 5 ज्ञानेन्द्रिय, 5 कर्मेन्द्रिय,5 प्राण, मन और बुद्धि । सुषुप्ति काल में यह विज्ञानात्मा पुरुष विज्ञान से ही प्राणों के विज्ञान को ग्रहण करता है[1]।

पाँचवा और अन्तिम कोश' आनन्दमयकोश की संज्ञा वाला होता है । यह कोश अत्यन्त आन्तरिक और सूक्ष्म होता है[2]। जीव की सुषुप्ति और मूर्छा की अवस्था में अज्ञान मात्र ही उपाधि होता है अज्ञान ही आगे चलकर अहङ्कारादि का तथा स्थूल और शरीरों का कारण या लय स्थान होने से ' कारण शरीर ' कहा जाता है ।सुषुप्ति और मूर्छा की अवस्था में मात्र अज्ञान होने के कारण जीव को आत्मा के अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तु का भान नहीं होता है,जिसके फलस्वरूप जीव को बाह्य विषयों से उत्पन्न सुख दु:खादि का अनुभव भी नहीं होता है । कारण शरीर आनन्द के प्राचुर्य से युक्त होने के कारण तथा कोश के समान चैतन्यात्मा का अवच्छेदन होने के कारण'आनन्द-मयकोश' कहा जाता है ।

जाग्रत् अवस्था में जीव स्थूलशरीर,सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर-इन तीनों से सम्बद्ध रहता है ।स्वप्नावस्था में सूक्ष्म और कारण शरीर से युक्त होता है तथा सुषुप्ति और मूर्छा की अवस्था में जीव केवल ' कारण शरीर 'से ही सम्बद्ध रहता है ।इस अवस्था में मात्र ' अज्ञान ' ही रहता और अज्ञान या अविद्या ही जीव के जीवत्व का कारण होने के कारण यह अवस्था 'कारण' शरीर के नाम से जानी जाती है ।

1- ' एष विज्ञानमय: पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय '
बृ०उ० 2/1/17 ;

2- विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमय: । तै०उ० 2/5/1 ;

जीव को शरीरप्राप्ति

जीव को संसारप्राप्ति के पश्चात् करने तथा उन कर्मों के फल को भोगने के लिये एक आधार की आवश्यकता होती है । ऐसा आधार जीव को अन्न और रस से निर्मित ' स्थूल शरीर ' ही प्रदान कर सकता है । ' कारण शरीर ' और ' सूक्ष्म शरीर ' से युक्त चैतन्य की ही तो ' जीव ' संज्ञा होती है । यह जीव बिना स्थूल शरीर के कर्म और भोग करने में असमर्थ रहता है । स्थूल शरीर से सम्पन्न हो जाने पर ही जीव कर्म करने और पूर्णभोग करने में समर्थ होता है ।

जीव के भावी (स्थूल) शरीरग्रहण करने में कर्म ही निमित्त बनते हैं अर्थात् जिस प्रकार के शुभ अथवा अशुभ कर्म जीव पूर्व जीवन में किये रहते हैं, उन्हीं के अनुसार शुभाशुभ योनियों या शरीरों में जीव को जन्म मिलता है । ये शुभाशुभ कर्म संकल्प, स्पर्श, दर्शन और मोह से उत्पन्न होते हैं[1] । जीव स्वकर्मों से प्रेरित होकर ही संसार को प्राप्त करता है । कर्मों का क्षय हो जाने पर जीव ' मुक्त ' कहा जाता है । यह कर्म पुण्य और पाप दो रूपों वाला होता है । पुण्य कर्मों के प्रभाव से जीव को पुण्य शरीरों की प्राप्ति होती है तथा पापकर्मों के प्रभाव से पापशरीरों की प्राप्ति होती है[2] । इस प्रकार जीवों के शरीर तथा इन्द्रियों के निमित्त या कारण ' कर्म ' ही माने जाते हैं । स्वभावत: दु:ख की अधिकता

1- संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मवृद्धिजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ।। श्वे0उ05/11;

2- ' पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप: पापेन ' बृ0उ0 3/2/13 ;

वाले पापकर्मों को करने वाले जीव अवश्य ही नारकीय, तिर्यक् तथा प्रेतादि समस्त स्थावर-जङ्गम योनियों में बारम्बार जन्म लेकर दु:ख का अनुभव करते हैं और पुण्यकर्मी मनुष्य, देव तथा गन्धर्वादि योनियों में जन्म लेकर पापकर्मियों की अपेक्षा अधिक सुखी होता है। इन पुण्यकर्मी जीवों में भी पुण्य कर्मों का न्यूनाधिक्य होने के कारण उनसे मिलने वाले सुखों में कमी-बेशी रहती है। शरीर प्राप्त करने के पश्चात् जीव इस कर्मप्रधान लोक में जो भी कर्म करता है, उसे भोगने के लिये शरीर को त्याग कर दूसरे लोकों को जाता है। लोकान्तर में कर्मफल का भोग होने के पश्चात् इस लोक में पुन: कर्म करने के लिये आता है[1] तथा पुन: कर्म करके फलासक्ति के कारण परलोक को जाता है। इस प्रकार कामना करने वाला जीव ही संसार-बन्धन को प्राप्त होता है।

जीव एक शरीर का त्याग करने के पश्चात् फलभोग के लिये ही परलोक को जाता है और कर्म करने के लिये इस संसार में आने पर उसे पुन: नये शरीर की आवश्यकता होती है। नवीन शरीर का ग्रहण ही 'देहान्तर-प्राप्ति' कहलाता है। मृत्यु तो शरीर का स्वाभाविक धर्म है, जीव का नहीं। मृत्यु को जीव का स्वाभाविक धर्म मानने पर तो हमेशा मृत्यु-पाश में बंधे होने के कारण जीव का मोक्ष सम्भव ही नहीं हो सकेगा और तब जीव बारम्बार संसार-चक्र में ही भ्रमण करता रहेगा। जीव से रहित होने पर शरीर ही मरता है जीव नहीं मरता[2]। एक शरीर के मृत हो जाने पर जीव उसमें स्थित रहकर कर्म नहीं

1- प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण: । बृ0उ0 3/3/14 ;

2- ' जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते ' छा0उ06/11/3 ;

कर सकता । यही कारण है कि एक शरीर के नष्ट होने पर कर्म करने के लिये उसे पुन: नये शरीर की आवश्यकता होती है । यहाँ शरीर-प्राप्ति से तात्पर्य स्थूल शरीर की प्राप्ति से है ।

मरणोन्मुख जीव की स्थिति

शरीर-त्याग के समय जीव को कैसी अनुभूति होती है,तथा जीव के साथ और कौन कौन शरीर को छोड़ते हैं ? जीव की शरीरान्तर प्राप्ति के समय कौन से तत्त्व सहायक होते हैं ? इन सभी शङ्•काओं का समाधान उपनिषदों में इस प्रकार मिलता है - जिस समय जीव शरीर को छोड़ता है उस समय उसे अत्यधिक कष्ट की अनुभूति होती है । इसका कारण यह है कि जीव अपने स्थूल-शरीर के साथ इतना अधिक तादात्म्यभाव रखता है कि शरीर कोछोड़ते समय उसे कष्ट होता है । दूसरी बात प्राण समस्त शरीर में व्याप्त रहते हैं और चूँकि जीव के साथ ही प्राण भी शरीर को त्यागते हैं[1] इसलिए शरीर से निकलते हुए लिङ्•गात्मा या जीव तथा प्राणादि शरीर को पीड़ित करते हैं । जिस समय जीव मरणोन्मुख होता है अर्थात् शारीरिक दुर्बलता को प्राप्त होकर उत्क्रमण करने वाला होता है उस समय इस जीव की समस्त इन्द्रियाँ इसके शरीर के निमित्त कार्य करना बन्द कर देती है अर्थात् लिङ्•गात्मा में हीइन्द्रियों का लय हो जाता है ।चक्षु में रहने वाला चाक्षुष पुरूष,जब तक भोक्ता कर्मों से प्रेरित होकर देह धारण किये रहता है तब तक तो उपकार करता है परन्तु मरणोन्मुख जीव के चक्षु का उपकार नहीं करता और अपने आदित्य स्वरूप को प्राप्त हो

1- 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' बृ0उ0 4/4/2 ;

जाता है[1] अर्थात् उस समय मुमूर्षु रूपज्ञान हीन हो जाता है[2]। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के लिङ्गात्मा में लीन होने पर भी ' नहीं सूंघता ' 'नहीं चखता ' ' नहीं बोलता ' इत्यादि - ऐसा सम्बन्धी लोग कहते हैं । जब तक जीवशरीर से उत्क्रमण नहीं करता तब तक सभी बन्धुजनों को पहचानता है[3]।

जीव के शरीर से उत्क्रमण करने के समय हृदय का अग्रभाग आत्म-ज्योति से अत्यन्त प्रकाशित हो जाता है । इसी मार्ग से होकर यह जीवात्मा नेत्र, मूर्द्धा अथवा शरीर के किसी अन्य देश से उत्क्रमण करता है । जीव उत्क्रमण के समय विशेष विज्ञानवान् होता है[4]। निष्क्रमण काल में उसके साथ-साथ ज्ञान, कर्म तथा पूर्वप्रज्ञा भी जाते हैं[5]। मरणकाल में जीव उसी प्रकार की वासनाओं से युक्त होता है जिस प्रकार के कर्म वह जीवन-पर्यन्त किये रहता है ।उत्क्रान्ति के समय कोई भी कार्य सम्पादित नहीं किया जा सकता, क्योंकि कर्मद्वारा ले जाया जाने वाला जीव परतन्त्र होता है । परलोक को जाने वाले जीव के साथ सभी प्रतिषिद्ध और अप्रतिषिद्ध विद्या तथा विहित और अविहित कर्म जाते हैं । इसके अतिरिक्त अतीत कर्मफलानुभव की वासनाएं भी रहती हैं ।ये वासनाएं ही जीव को कर्म करने और फल भोगने में समर्थ बनाती हैं अर्थात् पूर्वाभ्यास के बिना जीव कोई कार्य नहीं कर सकता, उसकी इन्द्रियां अक्षम

1- "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्नि वागप्येति प्राणश्चक्षुरादित्यम्" बृ०उ० 3/2/13 ;

2- यत्रैष चाक्षुषः पुरुषःपराङ्पर्यावर्तते थारूपज्ञो भवति ।वही 4/4/1;

3- स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति । छा०उ०8/6/4·

4- स यावदस्माच्छरीरानुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति । वही8/6/4;

5- ' सविज्ञानो भवति ' बृ०उ० 4/4/2 ·

रहती हैं । जीवों में भूख, प्यास और आत्मरक्षा की प्रवृत्तियाँ जन्मजात अर्थात् पूर्वप्रज्ञा के कारण ही होती हैं । ये सभी वासना-संस्कार जीव की बुद्धि में ही स्थित रहते हैं और जीव के साथ उत्क्रान्ति के समय जाते हैं और अगले जन्म में अवसर पाकर उद्भूत हो जाते हैं । अत: यह स्पष्ट है कि पूर्वप्रज्ञा के बिना किसी की भी कर्म या उसके फल में प्रवृत्ति होनी सम्भव नहीं होती[1]।

इस प्रकार विद्यादि के भार से लदा हुआ जीव देहान्तर को प्राप्त करने के लिये पूर्व देह को त्यागता है । उस समय मर्मस्थानों के छेदन किये जाने पर अर्थात् मर्मस्थानों से अलग होने पर जीव दु:ख और वेदना से व्याकुल होकर शब्द करता हुआ जाता है[2]।देहत्याग के समय अत्यधिक पीड़ा से व्याकुल होने के कारण जीव की स्मृति नष्ट हो जाती है ।पीड़ा के कारण जीव ऊर्ध्वोच्छ्वास करता है । ऊर्ध्वोच्छ्वास का दूसरा कारण है शरीर का अशक्त होना । वृद्धावस्था आने पर शरीर पके हुए फल के समान स्वयं ही जीर्ण हो जाता है अथवा ज्वरादि रोगों के द्वारा निरन्तर तप्त किये जाने पर भी कृशता को प्राप्त हो जाता है,तब वह लिङ्गोपाधिक जीव वृन्तरूप बन्धन से आम्रादि फलों की भाँति कृश शरीर रूप बन्धन से अर्थात् शरीर के चक्षुरादि अवयवों से छूटकर चला जाता है । जीव का एक शरीर से यह गमन दूसरे शरीर में पहले की भाँति ही होता है[3]।जैसे पुन: पुन: जागरित स्थान से स्वप्न और सुषुप्त

1- तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ।बृ0उ04/4/2 ;

2- अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति । वही 4/3/35 ;

3- स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाणिमानं निगच्छति तद् यथाम्र·····बन्धनात् प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्य: सम्प्रमुच्य पुन:प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव । वही4/3/36 ;

अवस्थाओं में जाकर लौट आता था वैसे ही शरीर परिवर्तन करता है। शरीर त्यागने के बाद जीव उसी शरीर में न लौटकर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। जागरित अवस्था से स्वप्न अवस्था में आने पर प्राणादि के द्वारा जीव शरीर का रक्षा करता है परन्तु शरीरत्याग के पश्चात् प्राणादि से उसकी रक्षा न करने के कारण वह जीव पुन: उसी शरीर में लौटकर नहीं आता क्योंकि जीव के उर्ध्वोच्छ्वासी होते ही सभी प्राण उसके सम्मुख एकत्रित हो जाते हैं और जीव के बाहर निकलते ही स्वयं भी निष्क्रमित हो जाते हैं[1]।

जीव का देहान्तर-ग्रहण

एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करना ही 'देहान्तर-ग्रहण' कहलाता है। एक शरीर को छोड़ने पर जीव अपने कर्मानुसार कुछ समय तक स्थूलशरीर से रहित होकर प्रेतादि रूप से विचरण करता है, तत्पश्चात् कर्मानुसार हो जिस योनि में उसे शरीर मिलना होता है उस शरीर की रचना करने वाले सम्पूर्ण भूत और इन्द्रियों का उपकार करने वाले सूर्यादि देवता उस जीव के कर्मों से प्रेरित हो जाते हैं तथा कर्मफल के उपभोग के साधनों सहित जीव की प्रतीक्षा करते हैं और यह जीव उनसे आकृष्ट होकर उन्हीं शरीरों का ग्रहण करता है[2]।

जीव के शरीरान्तर-ग्रहण में तृणजलूका का दृष्टान्त देते हुए कहा गया है कि यह संसारी आत्मा, तृण-जलूका के एक तृण से दूसरे तृण पर जाने के

1- अन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासीभवति।
बृ०उ० 4/3/38;

2- सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्तेऽयं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति।
वही 4/3/37;

समान अपने पूर्वप्राप्त शरीर को मारकर अर्थात् अविद्या या अचेतनता को प्राप्त करा के शरीरान्तर को अपनी फैली हुई वासनाओं से ग्रहण करके उसमें ही आत्म-भाव रखता है तथा पूर्व शरीर के प्रति आत्मभाव को त्याग देता है[1]। भोक्ता जीव कर्म और ज्ञान की वासनाओं के द्वारा देह की रचना कर लेता है। पितर, गन्धर्व, देव प्रजापति ब्रह्मा अथवा अन्य भूतों से सम्बद्ध शरीरान्तर की रचना जीव ही करता है[2]। कर्म जनित इन देहान्तरों की रचना जीव ठीक उसी प्रकार करने में समर्थ होता है जैसे स्वप्नावस्था में इच्छित शरीरों की तथा इच्छित स्थानों की रचना कर लेता है। इनमें अन्तर केवल इतना होता है कि स्वप्ना-वस्था में निर्मित शरीर की रचना के लिये स्थूल भूतों की अपेक्षा नहीं होती, केवल मन की वासनाएं ही पर्याप्त होती हैं और शरीरान्तर की रचना करने में इन कर्मजनित वासनाओं के अतिरिक्त स्थूलभूतों की भी आवश्यकता होती है।

शरीर के निर्मित हो जाने पर अर्थात् भोक्ता के कर्मों के अनुसार स्थावर या जङ्गम शरीर की रचना हो जाने पर जीव उसमें आत्मभाव रखने लगता है तथा प्राण और इन्द्रियाँ भी जीव का अनुगमन करने के कारण कर्मवश उसी नवनिर्मित शरीर के निमित्त कार्य करने लगते हैं।

1- अयमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यमाक्रमाक्रम्यात्मानमुपसंहरति। बृ०उ० 4/4/3 ;

2- अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वान्येषां वा भूतानाम्।
वही 4/4/4 ;

जीव की गति

जीव कामनाओं से युक्त होने के कारण ही संसार में जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है क्योंकि कामनाएं ही संसार की मूल हैं। जीव की कामनाओं के अनुसार ही उसके संकल्प होते हैं,संकल्प के अनुसार ही कर्म में उसकी प्रवृत्ति होती है तथा जैसे कर्म जीव करता है,उन्हीं के अनुरूप ही फल भी प्राप्त करता है[1]। अभिलाषा युक्त कर्म वाला जीव जितने भी शुभाशुभ कर्म इस संसार में रहकर करता है,मरने के पश्चात् उनके फलों को अन्य लोकों में जाकर अवश्य भोगता है और फलों की समाप्ति होने पर इस लोक में आकर कर्म करने के लिये पुन:शरीर को धारण करता है[2]। जब तक जीव अविद्याग्रस्त स्थिति में रहता है, वह कर्मफल के निमित्त बारम्बार शरीर धारण करने के लिये विवश रहता है। जन्म-मरण से वह छुटकारा तभी पा सकता है जब अपने स्वरूप को पहचान ले और शरीरेन्द्रिय के प्रति आत्मभाव का त्याग कर दे[3]। अविद्याग्रस्त जीव एक,अद्वितीय और अकर्ता,अभोक्ता ब्रह्म को न जानकर अनेक रूपों में इस ब्रह्म को समझता है और बारम्बार मृत्यु के मुख में जाता है[4]।

1- काममय एवायं पुरुष स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतु भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते । बृ0उ0 4/4/5 ;

2- 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् ।तस्माल्लोकात् पुनरेत्यऽस्मै लोकाय कर्मण' वही 4/4/6 ;

3- अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै: । श्वे0उ0 1/8 ;

4-मृत्यो:स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति । कठ0उ02/1/10 ;

अविद्या में फँसा हुआ जीव पुत्रकलत्रादि अनेकों मोह और तृष्णापाशों से बँधा रहता है । उन्हीं में अहंता और ममता के भाव रखता है तथा इतने पर भी अपने को अत्याधिक बुद्धिमान समझता हुआ अनेकों कुटिल गतियों को प्राप्त करता है और मुक्ति का मार्ग न मिलने से संसार में ही भटकता रहता है । धनाभिमानी जीव इस लोक के मृगमरीचिका सदृश आनन्द तथा सुखों को ही सब कुछ मानकर, परलोक के कष्टों को नहीं स्मरण करते हैं, वे यह सोचते हैं कि यही लोक है जो दृष्टिगत है, परलोक किसने देखा है ? अतः नहीं है । परन्तु उनके ऐसा सोचने से तो कर्म के फल मिलने बन्द नहीं होंगे । ऐसी अवस्था में वे बार-म्बार मृत्यु के मुख में प्रवेश करके अपने पापकर्मों के कारण नरकादि दूसरे लोकों को जाते हैं ।

जीव शुभकर्मों से पुण्य अर्जित करता है जिससे उसे ब्राह्मण,क्षत्रिय और वैश्य योनियों की प्राप्ति होती है । इसके विपरीत अशुभकर्म करने वाले पापात्मा जीव मृत्यु के उपरान्त कूकर, शूकर इत्यादि निकृष्ट योनियों में जा गिरते हैं । इनके अतिरिक्त जो जीव अत्याधिक पापाचारी होते हैं,वे वृक्षादि स्थावर योनि-यों में जन्म लेते हैं[1] यही इनकी गति है । शुभकर्मों से स्वर्गादि ऐश्वर्यवान् लोकों में पुण्यकर्मा अपने कर्मों के फल भोगते हैं और पुण्यों के क्षीण होने पर इसी लोक में उत्तम योनि में जन्म लेते हैं । अशुभ कर्मों से मृत्यु के पश्चात् नरकीय यातनाओं

1- तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशोह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिय योनिंवा वैश्य योनिं व अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशोद्द्यत्ते कपूयां योनिमापद्येर श्वयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा । छा0उ05/10/7 ;

को भोगकर इसी मर्त्यलोक में जीव तिर्यगादि योनियों में जन्म लेता है[1]।

उपनिषदों में जीव की मुख्यत: तीन ही गतियाँ वर्णित हैं:--

§1§ शुक्ल गति

§2§ कृष्ण गति

§3§ अशास्त्रीय प्रवृत्ति वालों की गति

शुक्लगति :-

इन तीनों गतियों में से 'शुक्लगति' उनकी होती है,जो तप और श्रद्धा 'हिरण्यगर्भ' संज्ञक कार्यब्रह्म की उपासना करते हैं। पुण्यकर्मातथा सगुण ब्रह्म के उपासक शरीरपात के अनन्तर शुक्लगति अर्चिरादि मार्ग या देवयान के ही अधिकारी होते हैं। इनके मरने के पश्चात् शव-कर्म किये जाने से या न किये जाने से इनके ब्रह्मलोक - गमन में कोई अन्तर नहीं पड़ता अर्थात् ये अवश्य ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति करते है[2]। शरीरपात के अनन्तर ब्रह्मोपासक ज्योति,दिन शुक्लपक्ष, उत्तरायण के छ: मासों को प्राप्त होता हुआ संवत्सर, आदित्य,चन्द्रमा तथा विद्युत् को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् एक अमानवपुरुष उस उपासक के उपास्य कार्यब्रह्म के लोक को प्राप्त करा देता है[3]।यह लोक शारीरिक तथा -

---

1- §क§ 'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेनपापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्' प्र॰3/7।

§ख§ योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वायदेहिन:। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम्। क0उ0 2/2/7;

2- 'यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्ति' छा0उ04/15/5;

3- 'अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाण पक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासा ंस्तान्। मासेभ्य:संवत्सर ंसंवत्सरादादित्यादादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसोविद्युतं तत्पुरुषोऽमानव: स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयान: पन्था।' छा0उ05/10/2प्र0उ01/10, बृ0उ0 6/2/15;

मानसिक दु:खों से रहित है । यहाँ यह उपासक ब्रह्मा के समान ही ऐश्वर्ययुक्त भोगों को भोगता है तथा जब इस ब्रह्म की मुक्ति होती है, तभी इन उपासकों की भी मुक्ति होती है[1]। इस लोक से लौटकर कर्म करने के लिये पुन: मृत्यु लोक में नहीं आना होता है[2]।

प्राण प्रयाण के अनन्तर शुक्ल गति से जाने वाले उपासकों के लिये जो यह कहा गया है कि 'दिन के अभिमानी देवता' को प्राप्त होते हैं तो इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए उनकी मृत्यु दिन में होनी आवश्यक है, क्योंकि मरणकाल का कोई नियम नहीं होता । आयु क्षीण होने पर ही मृत्यु होती है । चाहे वह दिन हो चाहे रात्रि । रात्रि में जिन उपासकों का शरीरपात होता है वह दिन की प्रतीक्षा नहीं करते हैं । अत: दिन के अभिमानी देवता अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए, दिन नहीं । मन से युक्त 'सूक्ष्म शरीर' की जिससे युक्त होकर उपासक जाता है, गति अत्यन्त तीव्र होती है अर्थात् जितनी देर में मन जाता है उतनी ही देर में उपासक ब्रह्मलोक प्राप्ति के द्वार 'आदित्यलोक' को पहुँच जाता है[3]।

इस प्रकार पाप और पुण्य से रहित हुए उपासक सूर्यद्वार से अपने उपास्य 'हिरण्यगर्भ' तक पहुँच जाते हैं[4]।

1- अशोकमहिमं तस्मिन् वसति शाश्वती समा: । बृ०उ० 5/10/1 ;
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकाम: ।। श्वे०उ०1/11।

2- 'तेषान पुनरावृत्ति:' बृ०उ० 6/2/15,·

3- " यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति खलु लोकद्वारं विदुषांप्रपदनं "
छा०उ०8/6/5

4- सूर्यद्वारेण ते विरजा:प्रयान्ति यत्रामृत:स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।
मु०उ० 1/2/11 ;

कृष्णगति :-- यह गति उन पुरुषों की होती है जो इष्ट,पूर्त और दत्त कर्मों को करते हैं । जो अग्निहोत्रादि यज्ञ तथा कृच्छ्चान्द्रायण रूप तप के द्वारा लोकों को जीतते हैं ऐसे उपासनाशून्य कर्मी ही पुण्य अर्जित करके धूमयान, कृष्णगति अर्थात् पितृयाण से जाकर चन्द्रलोक के अधिकारी होते हैं ।[1]ऐसे यज्ञकर्मा शरीरपात के अनन्तर सर्व प्रथम धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होकर क्रम से रात्रि,कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के छह मासों,पितृलोक और आकाश को प्राप्त होकर अन्त में चन्द्रलोक को पहुंच जाते हैं । शुक्लगति वाले उपासकों से इनका अन्तर यह है कि ये संवत्सर को नहीं प्राप्त होते हैं ।[2]चन्द्रलोक में इन कर्मियों को एक जलीय शरीर प्राप्त होता है,जिसके माध्यम से ये अपने पुण्यकर्मों के फल का उपभोग करते हैं ।ये कर्मी देवताओं के अन्न अर्थात् उपभोग्य हैं ।[3]कर्मी देवताओं के उपभोग्य होने पर भी सुखी होकर देवों के साथ क्रीडा करते हुए सुख [पुण्य] भोग करते हैं । कुछ समय के पश्चात् अर्थात् पुण्य के क्षीण हो जाने पर इनको कर्म करने के लिये फिर शरीर

1- तद्य इह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते, ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते ।
प्र0उ0 1/9 ;

2- य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासा्ँस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति । मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसम् ।

छा0 उ0 5/10/3,4 ;

3- देवानां अन्नं तं देवा भक्षयन्ति । वही 5/10/4 ;

' एवमेनां्ँस्तत्र भक्षयन्ति ' बृ0 उ0 6/2/16 ;

धारण करना पड़ता है और मृत्युलोक में आना होता है ।[1] इससे सिद्ध होता है कि यज्ञादि कर्म, इन्हें करने वालों को मोक्ष न प्रदान करके पुन: संसार के बन्धन में डाल देते हैं । पुण्यक्षीण होने पर स्वर्गादि लोकों से च्युत होने वाले इन कर्मियों के लिये यह आवश्यक नहीं है कि इन्हें मनुष्य योनि में ही जन्म मिले, बल्कि तिर्यगादि योनियों या उससे भी हीन योनियाँ भी मिल सकती है, क्योंकि जिन पुण्यों के प्रभाव से स्वर्गादि उत्कृष्ट लोकों में गमन हुआ था वे तो भोगकर समाप्त ही किये जा चुके होते हैं, अत: पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ही उसे जो शरीर मिलना होगा वही मिल जायेगा[2]। प्रश्न-उपनिषद् के अनुसार 'ओंङ्कार' की दो मात्राओं की उपासना करने वालों को भी 'सोमलोक' या 'चन्द्रलोक' की प्राप्ति होती है ।वहाँ ऐश्वर्ययुक्त भोगों को भोगकर उपासक पुण्यक्षीण होने पर मनुष्यलोक में लौट आते हैं।[3]

ऐसे सकामकर्मी पुण्यक्षय होने के उपरान्त अवश्य ही स्वर्गादि लोकों से लौटते हैं । इनके पुनरावर्तन का क्रम इस प्रकार है -- ये 'अनुशयी' जीव आकाशवायु, धूम, अभ्र, और मेघ फिर मेघ होकर बरसते हैं । तत्पश्चात् इस लोक में यवादि अन्नरूप से ये जीवरूप में उत्पन्न होते हैं । इस अन्नरूपता को प्राप्त जीवों को जो-जो जीव भक्षण करते हैं उनके शरीर के अन्दर ही ये जीव प्रविष्ट

1- यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनाऽऽतुरा: क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ।मु0उ01/2/9
श्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं तेपुनरेवापि यान्ति ।वही 1/2/7;
2- नाकस्य पृष्ठे ते सुकृते नुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ।वही 1/2/10;
3- अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते·····स सोमलोके विभूतिमनुभूय
पुनरावर्तते । प्र0उ0 5/4,·

हो जाते हैं । जब भक्षण करने वाले ये जीव वीर्य - सेचन करते हैं,तब वीर्यरूपता को प्राप्त अनुशयी जीव, अपने -अपने जन्म देने वाले जीवों के रूपों को ही प्राप्त हो जाते हैं । जीवों का यह निष्क्रमण अत्यन्तकष्टकर है । ब्रीहियवादि रूप को प्राप्त होना ' दुर्निष्प्रपत है और रेत: सेचन करने वाले प्राणियों के शरीरों का सम्बन्ध' दुर्निष्प्रपततर ' हैं,क्योंकि आकाश,अभ्र और मेघादि भाव से तो शीघ्र ही मुक्ति मिल जाती है,परन्तु अन्न भाव से छुटकारा प्राप्त होने में अधिक समय लगता है तथा रेत:सिक् प्राणियों के साथ सम्बन्ध हो जाने पर उससे मुक्त होने में अत्यधिक विलम्ब और कठिन हो जाता है ।

आकाश भाव से लेकर ब्रीहियवादि भाव को प्राप्त होने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि ये जीव इन {आकाशादि} से केवल संश्लिष्ट हो जाते हैं । ब्रीह्यादि के रूप को ये नहीं प्राप्त करते हैं,अतएव उनके कर्म और सुखदु:ख आदि से नहीं संयुक्त होते हैं । सुखदु:ख से संयुक्त केवल वही ब्रीहि और यवादि होते हैं, जिन्हें अशुभ और निकृष्ट कर्मों को करने के कारण इस तुच्छ योनि की प्राप्ति होती है । इन जीवों को किसी कर्म के फलस्वरूप इस भाव की प्राप्ति तो होती नहीं है,वरन् कर्मियों के पुनरावर्तन के क्रम में केवल इस भाव की प्राप्ति होती है ।

ये अनुशयी जीव भक्ष्य अन्नों में ही उत्पन्न होंगे यह आवश्यक नहीं है । इस अवस्था में अर्थात् अभक्ष्यों में उत्पन्न होने पर ये अनुशयी जीव वहीं सूख जाते हैं । इसके अतिरिक्त भक्ष्य अन्नों {के रूप} में इन जीवों की उत्पत्ति होने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि उनका जन्म हो ही जायेगा,क्योंकि अन्न भक्षण

1- एतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति अभ्रं मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह ब्रीहियवा ओषधि-वनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते तो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेत: सिञ्चति तद्भूय एव भवति । छा०उ०5/10/6 ;

करने वाले अनेकों होते हैं । अतः यदि वे जीव, अन्न रूप में ऊर्ध्वरेता, बालक, नपुंसक अथवा वृद्ध पुरुषों के द्वारा खाये जाते हैं तो उनके पेट के अन्दर ही वे नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि इस प्रकार के मनुष्य वीर्य-सेचन में असमर्थ होते हैं । जब ये अनुशयी जीव वीर्यसेचन करने वाले पुरुषों के द्वारा भक्षित किये जाते हैं, तब उन जीवों को कर्मों की वृत्तियों का लाभ होता है । चूंकि वीर्य पुरुष के सम्पूर्ण अङ्गों से उत्पन्न हुआ तेज होता है,[1] इसलिए ये अनुशयी जीव वीर्य सेचन करने वाले की ही आकृति का हो जाता है, जैसे पुरुष से पुरुष, बैल से बैल और पक्षियों से पक्षी के आकार वाला होता है ।

धूमादि-मार्ग से चन्द्रमण्डल पर आरूढ होने के समय तो जीवों की सविज्ञानता रहती है, परन्तु कर्मक्षय के उपरान्त चन्द्रमण्डल से पुनरावर्तन के समय उनको विज्ञानशून्यता ही रहती है । इस समय इनकी समस्त इन्द्रियाँ अवरुद्ध सी रहती हैं । ये अनुशयी जीव अन्न के काटने, पीसने, पकाने, खाने और रसादि रूप में परिणत होने और वीर्य-सेचन के समय भी मूर्च्छित से ही रहते हैं, क्योंकि उनके देहान्तर का आरम्भक कर्म अलब्धवृत्ति रहता है । इनकी देह का बीजभूत जल कभी इनसे अलग नहीं रहता है ।

<u>अशास्त्रीय प्रवृत्ति वालों की गति :--</u>

जिनकी न तो उपासना के द्वारा अर्चिरादि मार्ग की प्राप्ति होती है और न ही इष्टादि कर्मों के द्वारा घटी-यन्त्र के सदृश पुनः पुनः धूमादि मार्ग से आवागमन होता है, ऐसे अशास्त्रीय

1- " सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतम् " ऐ०उ० 4/1 ;

प्रवृत्तिवाले जीवों की किसी भी मार्ग के द्वारा गति सम्भव नहीं होती । ये क्षुद्र जीव इसी संसार में ही आने- जाने वाले होते हैं । 'उत्पन्न होना और मरना ' यही इनका उद्देश्य होता है[1]। यही इनकी गति होती है । ऐसे जीव कीट, मच्छर, पतङ्ग और डाँस आदि योनियों में जन्म लेते हैं और मरते हैं । इस प्रकार अपने किये गये कर्मों का फलोपभोग करते रहते हैं । इन क्षुद्र जीवों की इन योनियों से मुक्ति तभी मिलेगी, जब कि इनके शरीरों के आरम्भक कर्म समाप्त होंगे ।

जीव का मोक्ष

जीव के ' मोक्ष ' या ' मुक्ति ' का अर्थ है जीव के द्वारा अपने स्वरूप को पहचान कर और अविद्या-निमित्तक संसार-चक्र के बन्धन से सदा सर्वदा के लिये छुटकारा पा लेना । जीव की ' जीवत्व ' से निवृत्ति तभी सम्भव है जबकि वह अपने को शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और नित्यस्वरूप समझे, और जब तक वह ऐसा नहीं जान पायेगा, तब तक संसार चक्र में ही भ्रमता रहेगा अपने को माया के अधीन मानता हुआ भोक्तृत्व और कर्तृत्व में फँसा रहेगा[3]। उन कर्मों का क्षय ज्ञान के

1- अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीय स्थानम् । छा०उ० 5/10/8 ;
2- अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् । बृ०उ० 6/2/16 ;
3- अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः । श्वे० उ० 1/8 ;
अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे । पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति । वही 1/6 ;

द्वारा होता है जो संचित तथा क्रियमाण कर्म होते हैं,परन्तु,प्रारब्ध कर्म अर्थात् जो कर्म फल देने के लिये प्रस्तुत (प्रारम्भ) हो चुके हैं उनका क्षय तो भोग हो जाने पर ही होता है इसलिये वे कर्म ज्ञान से नष्ट नहीं होते हैं । अत: ज्ञान के द्वारा कर्मों का क्षय हो पाने पर जीव मुक्त ' तो हो जाता है परन्तु उसे शरीर तब तक धारण किये रहना पड़ता है जब तक कि प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त नहीं हो जाता । इस स्थिति को आचार्य शङ्कर ' जीवन्मुक्ति 'कहते हैं । जब इन कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है तो जीव को ' विदेहमुक्त ' की संज्ञा प्राप्त हो जाती है । इस समय जीव का जीवत्व भी समाप्त हो जाता है और वह ब्रह्मरूप हो जाता है ।[1]

मुक्ति के दो भेद वेदान्त में कहे गये हैं :-

(1) सद्योमुक्ति

(2) क्रममुक्ति

<u>सद्योमुक्ति :--</u>

सद्योमुक्ति का अर्थ है विद्वान् का ज्ञान होने के अनन्तर उसी क्षण मुक्त हो जाना अर्थात् अविद्या का नाश हो जाना । ' मुक्त होना 'उसे कहते हैं,जब जीव शरीराभिमान, कर्तृत्व भोक्तृत्व के अभिमान का त्याग कर दे । शरीरगत और इन्द्रियगत सुखदु:खों को आत्मगत न समझे ।इस प्रकार ब्रह्म को जानकर अर्थात् स्वयं को बन्धनमुक्त हुआ ' अहं ब्रह्मास्मि 'इत्यादि रूप में शुद्ध स्वरूप मानता है तब वह जीव,जीव न रहकर ब्रह्म ही हो जाता है[2]।वस्तुत:

1- ' ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति ' मु०उ० 3/2/9 ;

2- ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति । बृ०उ० 4/4/6 ;

अविद्या का नाश और विद्या की प्राप्ति कोई दो पृथक् वस्तु नहीं है । अविद्या के नाश को ही ज्ञान-प्राप्ति या मोक्षप्राप्ति कहते हैं । ब्रह्म की प्राप्ति से या आत्मसाक्षात्कार होने पर विद्वान् कल्मष रहित हो जाता है, अविद्या निमित्तक सभी भ्रम उसके मन से छिन्न-भिन्न होकर निकल जाते हैं । ज्ञानाग्नि, प्रारब्ध कर्मों को छोड़कर अन्य संचित तथा क्रियमाण कर्मों को दग्ध कर देता है[1] । प्रारब्ध कर्म ऐसे कर्मों को कहा जाता है जो कर्म अपना फल प्रदान करने में प्रवृत्त हो चुके हैं । ये कर्म जीव को एक शरीर छोड़ने के पश्चात् दूसरे शरीर की प्राप्ति कराते हैं अर्थात् दूसरे शरीर के लिये जन्म, आयु और भोग का निर्धारण करते हैं । जीव का मोक्ष हो जाने पर जिस शरीर में वह रहता है उसी शरीर के माध्यम से अपने अवशिष्ट (प्रारब्ध) कर्मों का भोग करता है । उसका पुनर्जन्म नहीं होता है । विद्वान् के समस्त संचित कर्मों का तो क्षय ज्ञानाग्नि के द्वारा हो जाता है अतः वे फल देने में असमर्थ होते हैं तथा उसके क्रियमाण कर्म अर्थात् आगे भविष्य में किये जाने वाले कर्म भी ज्ञान हो जाने के कारण फलासक्ति से रहित हो जाते हैं अतः पुनर्जन्म, आयु और भोग रूपी फल देने में असमर्थ होते हैं ।[2] इस प्रकार फिर से गमन का कोई कारण न होने से मरे हुए विद्वान् का पुनर्जन्म नहीं होता है[3] । वह केवल अपने प्रारब्ध कर्मों का भोग करते हुए शरीरपात की प्रतीक्षा करते

1- भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।। मु०उ०2/2/8;

2- एवं ब्रह्मविदः संन्यासिन उभे अपि कर्मणी क्षीयते-पूर्वे जन्मनि कृते ये ते, इह जन्मनि कृते ये ते च अपूर्वे च नारभ्येते । शा०भा०ब्र०उ० 4/4/22 ;

3- 'नहि विदुषो मृतस्य भावान्तरापत्तिर्जीवितोऽन्योभावो'
वही 4/4/6 ;

रहते हैं । प्रारब्ध कर्मों का क्षय उनके भोग से ही होता है । बीच में इनका वेग रुक नहीं सकता जैसे कुम्हार के चक्र का वेग समाप्त होने पर ही रुकता है अथवा जैसे छोड़े गये तीर का वेग अपने लक्ष्य पर ही पहुँचकर समाप्त होता है बीच में नहीं । दग्ध हुए संचित और क्रियमाण कर्मों वाले और प्रारब्ध कर्मों का भोग करने वाले विद्वान् की स्थिति ' जीवन्मुक्ति ' की कही जाती है । विद्वान् के पुनर्जन्म का अभाव होता है, क्योंकि जीव का ' जीवत्व ' समाप्त हो जाता है और उस विद्वान् के वागादि इन्द्रियाँ तथा प्राण आदि भी चिदाभास रूप अपने कारण के समाप्त हो जाने से पुरुष में ही विलीन हो जाते हैं ।[1] जैसे दर्पण के टूटने पर प्रतिबिम्ब का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता है वह बिम्ब रूप में ही रह जाता है ठीक उसी प्रकार बुद्धि उपाधि रूप दर्पण के आत्मज्ञान के अनन्तर नष्ट होने पर प्रतिबिम्बस्वरूप चिदाभास (जीव) का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता है वरन् बिम्बरूप ब्रह्म ही हो जाता है आत्मा ही तो उपाधियों से अवच्छिन्न होकर जीवरूप में कर्तृत्व और भोक्तृत्व से युक्त होता है तथा यह आत्मा ही ब्रह्म है[2] अत: जीव ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है ।

मुक्त विद्वान् शरीर में रहते हुए भी अशरीर है, क्योंकि शरीरगत उसकी कामनाएं, और एषणाएं ज्ञान के कारण नष्ट हो चुकी होती हैं । वह मात्र प्रारब्धकर्मों का भोग करता रहता है । शरीर के प्रति मोह और अभिमान लेशमात्र भी नहीं रहता है । उसकी स्थिति ठीक उसी प्रकार होती है जैसे अपनी त्यागी हुई केंचुली के प्रति कोई अभिमान और मोह न रखता हुआ सर्प रहता

1- ' न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ' बृ0उ0 4/4/6 ;

2- ' सवा अयमात्मा ब्रह्म ' वही 4/4/5 ;

है[1]। विद्वान् पुरूष मुक्त अवस्था में केवल भोग ही करता है,कोई कर्म न करता हो ऐसी बात नहीं है,वह कर्म अवश्य करता है क्योंकि कर्म किये बिना कोई एक क्षण भी नहीं रह सकता । परन्तु ये कर्म ज्ञान पूर्वक किये जाने के कारण अर्थात् फलासक्ति से रहित होने के कारण उनके फल देने की सम्भावना से रहित हो जाते हैं । जैसे ही विद्वान् के प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त होता है,इनका शरीरपात हो जाता है । उस समय इनकी 'विदेहमुक्ति' कही जाती है । जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में 'मुक्ति' में अन्तर नहीं होता है कि मुक्ति के ही दो,भेद होते हैं , अन्तर केवल इतना होता है कि 'जीवन्मुक्ति' में मुक्त विद्वान् के संचित और क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा केवल प्रारब्ध कर्मों का भोग वह शरीरपात-पर्यन्त करता रहता है तथा 'विदेहमुक्ति' में कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है और विद्वान् का शरीरपात हो जाने के कारण शरीर-रूप अवरोध भी समाप्त हो जाता है ।

क्रममुक्ति :-- 'क्रममुक्ति' का अर्थ है शनै:शनै: मुक्त होना । इस प्रकार की मुक्ति उनको मिलती है जो 'कार्यब्रह्म' अर्थात् हिरण्यगर्भ का ध्यान करते हुए उसकी उपासना करते हैं । उसे शरीरपात के अनन्तर उसी ब्रह्म की प्राप्ति होती है ।ऐसे उपासक अर्चिरादि मार्ग से अपने उपास्य ब्रह्म के लोक 'ब्रह्मलोक' को जाते हैं ।वहाँ जिन-जिन भोगों को ब्रह्मा भोगता है,उन्हीं-उन्हीं भोगों को उनके उपासक भी भोगते हैं । जब इन उपासकों के उपास्य ब्रह्मा की मुक्ति होती है तभी ये भी मुक्तिलाभ करते हैं ।इन उपासकों की मुक्ति वहीं हो जाती है ।

1- 'तद्यथाहि निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेद् शरीर् शेते ।
बृ0उ0 4/4/7 ;

इनकी मुक्ति तो शरीर रहते ही अर्थात् उपासना काल में ही अवश्यम्भावी हो जाती है । परन्तु मुक्ति ब्रह्मा के साथ ही होती है । इन उपासकों का पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् कर्म करने या फल भोगने के लिये पुन: संसार में नहीं आते हैं[1]।

सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति में यह भेद है कि सद्योमुक्ति ज्ञान से प्राप्त होती है तथा क्रम-मुक्ति ध्यान करने से मिलती है । सद्योमुक्ति से तत्क्षण जीव के अविद्या निमित्तक समस्त क्लेशों का नाश हो जाता है जिसमें जन्म और मृत्यु से उसी क्षण छुटकारा मिल जाता है और क्रम मुक्ति में उपासक ध्यान का सहारा लेकर शरीरपात के अनन्तर देवयान से जाकर कार्य-ब्रह्म को प्राप्त करता है तत्पश्चात् आप्तकाम होने पर 'कैवल्य' पद या 'मोक्ष' को प्राप्त करता है[2]।

1- 'तेषां न पुनरावृत्ति:' बृ०उ० 6/2/15 ;
इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते । छा०उ० 4/15/5,·

2- ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानि:क्षीणै: क्लेशैर्जन्म मृत्यु प्रहाणि ।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकाम: ।।
श्वे०उ० 1/11 ;

तृतीय अध्याय

श्रीमद्भगवद्गीता की जीव-विषयक संधारणा

श्रीमद्भगवद्गीता की जीव - विषयक संधारणा

जीव ब्रह्म का अंश है

अद्वैत - वेदान्त में जीव की सत्ता वास्तविक न होकर औपाधिक ही मानी गयी है । परमात्मा से भिन्न ' जीव ' कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रखता है, क्योंकि परमात्मा या ब्रह्म एक ही है । परमात्मा ही जीवरूप से संसार में प्रकट होता है[1]। जीव ही सुखदुःख रूप कर्मों का कर्ता और भोक्ता है । समस्त प्रतीयमान जीवजडात्मक जगत् ब्रह्मरूप ही है । गीता के अनुसार इस मृत्यु-लोक में अविद्यावशात् बारम्बार जन्म और मृत्यु को प्राप्त करने वाला तथा सुखदुःखादिरूप कर्मों को करने वाला और उन कर्मों का फल भोगने वाला जीव परमात्मा का ही अंश है[2]। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि यदि अद्वैत मत में स्वीकृत आत्मा तो निरवयव और निरंश हैतो फिर जीव उसका अंश कैसे हो सकता है ? इसका स्पष्टीकरण यह है कि जैसे जल से सूर्य का प्रतिबिम्ब,सूर्य का अंश कहा जाता है फिर भी जलरूप उपाधि के नष्ट होने पर उसकी पृथक् सत्ता नहीं रह जाती या जैसे घटादि उपाधियों से अवछिन्न निरंश आकाश भी अंश वाला प्रतीत होता है परन्तु उपाधि के नष्ट होने पर आकाश भेद रहित हो जाता है, वैसे ही शरीररूप अविद्यानिमित्तक उपाधियों के कारण ही जीव परमात्मा का अंश कहा गया है ।यह अंशत्व कोई अलग स्थित होने वाले टुकड़े

1- क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । श्रीमद्०गी०13/2 ;

2- ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । वही 15/7 ;

की भाँति नहीं है प्रत्युत जलसूर्यक या घटाकाश आदि की भाँति समझा जाना चाहिए । जिस प्रकार आकाश के निरंश और निरवयव होने पर भी घटाकाश, मठाकाश इत्यादि उसके अंश कहे जाते हैं उसी प्रकार निरंश और निरवयव परमात्मा के अंश के रूप में ' जीव ' का प्रतिपादन भी समझा जाना चाहिए ।

जीव ईश्वर की परा प्रकृति है

ईश्वर की दो प्रकार की प्रकृतियाँ कही गयी हैं । पहली ' अपरा प्रकृति ' जो अशुद्ध, निकृष्ट और संसार बन्धनरूपा है । यह प्रकृति आठ रूपों में विभक्त है । दूसरी ' परा प्रकृति ' यही प्रकृति इस संसार में ' जीव ' रूप से जानी जाती है और वही प्राणधारण का निमित्त भी बनती है । जीवरूपा यही प्रकृति समस्त जगत् को धारण करने वाली है तथा नित्य और शुद्धरूपा है[1]। इस प्रकार ईश्वर की दोनों प्रकृतियाँ ही जीवजडात्मक जगत् का कारण हैं ।

भोक्ता पुरुष अनादि और नित्य है तथा उसका कर्तृत्व, भोक्तृत्व अविद्यानिमित्तक है:--

जीव यद्यपि संसार में अपने किये गये शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार ही जन्म लेते हैं, अपराप्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणात्मक भोगों को भोगने के लिये ही जन्म लेते हैं और गुणों के प्रति आसक्ति ही जीवों को शुभाशुभ योनियों में जन्म लेने को विवश करती है[2], फिर भी त्रिगुणात्मक भोगों को भोगने वाला यह जीवात्मा ' पुरुष ' वास्तविक रूप में न तो जन्म लेता है और

1- जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।। श्री मद्०गी० 7/5 ;

2- कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु । वही 13/21 ;

न मरता है । जीव नाम की प्रकृति को गीता में 'पुरुष' की संज्ञा भी दी गयी है[1]।यह पुरुष भी ईश्वर की मायाशक्ति के समान ही अनादि है[2]।जीव की अविद्या-निमित्तक बुद्‌ध्यादि उपाधियों का ही नाश होता है । शरीर के नाश होने पर भी जीव मरता नहीं है और उत्पत्ति भी शरीर की ही होती है जीव की नहीं । यह जीव वास्तविकरूप में अजन्मा,शाश्वत नित्य और पुरातन माना गया है[3]।

यदि वास्तविकरूप से देखा जाय तो जीव न कर्ता है,न भोक्ता है और न सांसारिक बन्धनों से बंधा ही है बल्कि शुद्ध,अजन्मा और असङ्ग आत्मा है, फिर भी अविद्या के कारण वह अपने को अहंकार से मोहित हुआ अर्थात् कार्य करण से संघातरूप शरीर में आत्मभाव रखता हुआ प्रकृति के कर्मों को अपने में स्थित मानता हुआ उन-उन कर्मों का 'मैं ही कर्ता हूं' ऐसा मान बैठता है[4]। जीव का यह बन्धन कर्मों के कारण ही होता है । इन कर्मों को ईश्वर त्रिगुणमयी माया की सहायता से ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब-पर्यन्त जीवों के द्वारा बलात् करवाता है ।इन जीवों की शरीररचना भी स्वयं उनके कर्मों के अनुसार ही होती है,ईश्वर के द्वारा माया को वश में करके इन जीवों की रचना होती है[5]।यहाँ

1-(क) पुरुषो जीवःक्षेत्रज्ञो भोक्ता इति पर्यायः "-शां॰भा॰श्रीमद्॰गी।3/20
(ख) पुरुषःसुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते । श्रीमद्०गी०13/20

2- प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्‌ध्यनादी उभावपि ।वही ।3/18 ;

3- न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यःशाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।वही2/20

4- अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते । वही 3/27 ;

5- प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।। वही 9/8 ;

यह शङ्का हो सकता है कि ईश्वर तो निर्विकार और उदासीन को भाँति स्थित है[1], वह किस प्रकार भूत समुदाय को रचता है ? इसका समाधान करते हुए भगवान् कृष्णस्वयं कहते हैं कि निर्विकार एवं साक्षिमात्र मैं स्वयं सृष्टि व्यापार नहीं करता हूं बल्कि मुझ साक्षी से प्रेरित हुई माया या प्रकृति ही चराचर जगत् को उत्पन्न करती है । जीवों के भवचक्रबन्धन का क्रम इसी हेतु प्रारम्भ होता है[2]। इस माया का ही प्रभाव है कि जीव अपने वास्तविक स्वरूप को अज्ञानवश भूल कर संसार चक्र में, ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त विविध योनियों में बारम्बार जन्म लेता हुआ अपनी मुक्ति के पूर्व तक विचरण करता रहता है । अत: जीव के जीवत्व का कारण माया ही सिद्ध होती है । उसके ज्ञान का आच्छादन भी माया ही किये रहती है[3]। ईश्वर की यह त्रिगुणात्मिका माया शक्ति अत्यन्त कठिनाई से पार पाने योग्य है । ईश्वर का साक्षात्कार कर लेने वाले जीव ही इस मोहक शक्ति को जीत सकते हैं ।[4] ईश्वर का साक्षात्कार या ईश्वर का ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान है । इस आत्मज्ञान से ही जीव माया के चंगुल से छुटकारा पाकर ब्रह्मरूप में स्थित हो जाता है ।

जीव को शरीरान्तर की प्राप्ति

जीव वस्तुत: भले ही ब्रह्म या ब्रह्मांश कहा गया हो परन्तु

1- उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु । श्रीमद्०गी० 9/9 ;

2- मयाध्यक्षेण प्रकृति:सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।। वही 9/10 ;

3- अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव: । वही 5/15 ;

4- दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।। वही 7/14.;

व्यवहारकाल में अविद्याग्रस्त होने के कारण जीव शरीर में स्थित रहकर सुखदु:खा-दि का भोग करता ही है। इन भोगों को भोगकर जीव का शरीर नष्ट होता है और अन्यकर्मोपात्त भोगों को भोगने के लिये उसे नये शरीर की आवश्यकता होती है। जीव का यह शरीरपरिवर्तन उसी प्रकार होता है जिस प्रकार इस शरीर में कुमारावस्था, युवावस्था, और जरा आदि अवस्थाएं होती हैं।[1] इसी बात को स्पष्ट करते हुए गीताकार ने कहा है कि जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को जीर्णशीर्ण हो जाने पर त्यागकर नये वस्त्रों को धारण करता है उसी प्रकार यह जीवात्मा भी एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करता है अर्थात् देहान्तर की प्राप्ति होती है[2]। जिस प्रकार जीव के स्थूल शरीरों में कुमारादि अवस्थाओं का परिवर्तन होने पर अथवा मनुष्य के पुराने वस्त्रों के त्याग के समय उसके शरीरों को कोई कष्ट नहीं प्रतीत होता है, परन्तु जीवात्मा के शरीर परिवर्तन के सन्दर्भ में ऐसा नहीं देखा जाता है, क्योंकि जीव शरीर को ही आत्मा मानकर शरीरगत दु:खों को भी आत्मगत ही समझता है। शरीर के प्रति अत्यन्त आसक्ति के कारण ही जीव को शरीर त्याग के समय अत्यन्त कष्ट होता है। अत: इस नित्य नाशरहित और अप्रमेय जीवात्मा के ये शरीर ही नाशवान् हैं, वह स्वयं नहीं।[3] यही यथार्थ सत्य है। इस प्रकार जानने वाले

1- देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तर प्राप्ति र्धीरस्तत्र न मुह्यति।। श्रीमद्०गी०2/13;

2- वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णातिनरो पराणि।
तथा विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। वही 2/22;

3- अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता: शरीरिण:।। वही 2/18;

आत्मज्ञानी को शरीर और आत्मा का विवेकज्ञान भलीभाँति रहने के कारण उसे शरीर त्याग के समय अल्पमात्र भी कष्टानुभूति नहीं होती है। ज्ञानियों के अतिरिक्त सभी जीवों को देहान्तरप्राप्ति होती है।

जीव के स्थूलशरीर और सूक्ष्म शरीरयद्यपि दोनों ही नाशवान् होते हैं, फिर भी दोनों में एक विशेष अन्तर यह है कि स्थूल की प्रप्ति जीव को स्वकर्मानुसार बारम्बार होती है, परन्तु सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति एक ही बार होती है, जो जन्मजन्मान्तर तक जीव के साथ रहता है। जीव और सूक्ष्म-शरीर का सम्बन्ध तब तक स्थापित रहता है जब तक जीव की ' जीवत्व ' से निवृत्ति नहीं हो जाती है। मुक्ति होने पर सूक्ष्मशरीर नष्ट हो जाता है और जीव जीव न रहकर पूर्ण ब्रह्म हो जाता है। जीव को सूक्ष्मशरीर की प्राप्ति कैसे है जिससे युक्त होकर वह स्थूलशरीर को प्राप्त करता है ? इस सम्बन्ध में गीताकार का कथन है कि कर्णगोलकादि में स्थित श्रोत्रादि पाँचों इन्द्रियाँ अर्थात् कर्णगोलक में स्थित श्रोत्रेन्द्रिय, त्वचा में स्थित त्वगिन्द्रिय, अक्षिगोलक में स्थित नेत्रेन्द्रिय, जिह्वा में स्थित रसनेन्द्रिय, नासिका में स्थित घ्राणेन्द्रिय तथा मन इन छह इन्द्रियों को जीवात्मा जिस समय एक भौतिक या स्थूल शरीर को छोड़ता है उस समय अपने साथ उसी प्रकार खींचकर ले जाता है[1] और दूसरे शरीर को ग्रहण करता है, जिस प्रकार वायु पुष्पों से सुरभितस्थलों से सुगन्ध खींचकर ले जाता हुआ विभिन्न स्थानों को सुरभित करता है। वायु तथा सुगन्ध दोनों ही सूक्ष्म होने के कारण नेत्रों से दिखायी नहीं पड़ते हैं केवल अनुभव किये जा सकते हैं ठीक उसी प्रकार छहों इन्द्रियों सहित यह जीवात्मा भी सूक्ष्म होने के कारण

1- मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति। श्रीमद्०गी०15/7 ;

नेत्रों से दिखायी न पड़कर केवल अनुभव होता है[1]।जब जीवात्मा स्थूलशरीर को प्राप्त कर लेता है तभी, वह सांसारिक विषयों को भोगने में समर्थ हो पाता है।

जीव को शरीरान्तर प्राप्ति के सन्दर्भ में ही एक स्थल पर गीताकार ने कहा है कि जीव को सत्त्व,रजस् और तमस् ये तीनों गुण ही बन्धन में डालने वाले होते हैं।[2]जीव की बुद्धि त्रिगुणात्मिका होती है।सत्त्वगुण शान्त एवं हल्का होता है तथा सुखात्मक होता है,रजोगुण का स्वभाव चंचल तथा दु:खात्मक होता है और तमोगुण प्रमाद और आलस्य से युक्त तथा मोहात्मक होता है। इन गुणों में एक विशेष बात यह होती है कि ये परस्पर एक दूसरे को दबाकर ही प्रकट होते हैं। मृत्यु के समय जिस गुण की प्रधानता रहती है उसी के अनुसार जीव का अगला जन्म होता है।यथा सत्त्वगुण की प्रधानता होने पर जीव शरीर का त्याग करता है,तो उसे उत्तम योनि में अगला जन्म मिलता है और वह स्वर्गादि दिव्य लोकों का भोग भोगता है[3]। रजोगुण का स्वभाव दु:खात्मक और अस्थिर होने के कारण वह मनुष्य के कर्म में प्रवृत करता है, इसलिये मृत्यु काल में रजोगुण की वृद्धि होने पर जीव का पुनर्जन्म मनुष्य योनि में ही होता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति का तीसरा गुण 'तमस्' अज्ञान स्वरूप होने के कारण ज्ञान का आच्छादन किये रहता है। मृत्युक्षण में तमोगुण की वृद्धि

1- शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर:।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ श्रीमद्०गी०15/8 ;

2- निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्। वही 14/5 ;

3- यदासत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥ वही 14/14 ;

होने पर मनुष्य आलस्य,प्रमाद और मोह से युक्त मूढ़ तिर्यग्योनि में जन्म लेता है । उसे न कोई ज्ञान होता है और न कर्म ही करता है केवल भोग करके ही आयु क्षीण करते हैं और मर जाते हैं ।[1] मनुष्य से भिन्न जितनी भी योनियाँ इस मर्त्य लोक में हैं सभी केवल भोग योनियाँ हैं, कर्म करने में केवल मनुष्य ही स्वतन्त्रतया समर्थ होता है । मनुष्य ही ऐसा जीव है जो कर्म एवं भोग दोनों करता है ।

जीव की परलोक गति

मुक्ति न प्राप्त कर सकने वाला जीव मृत्यु के पश्चात् कहाँ जाता है ? जन्म लेने के पूर्व वह कहाँ रहता है ? इस मर्त्य लोक में वह पुन: कैसे आ जाता है ? इन सब प्रश्नों का विवेचन गीता में स्पष्ट रूप से किया गया है-- मनुष्य जो भी कर्म करता है,उसके अनुसार पुण्यरूप और पापरूप इन दो प्रकार के फलों को भोगता है । पुण्य कर्म मृत्यु के पश्चात् उत्तम लोकों के भोग प्रदान करते हैं और पापकर्म करने वाले इसी लोक में बारम्बार जन्म लेते हैं और मरते हैं ।पुण्यकर्मों के दो भेद होते हैं- पहला सकाम कर्म अर्थात् किसी कामना या इच्छा को लक्ष्य करके किया गया पुण्यकर्म, और दूसरा निष्काम कर्म अर्थात् किसी भी तरह के फल की इच्छा न रखते हुए पुण्य कर्म करना । इन दोनों में से सकामपुण्य कर्म करने वाले मनुष्य यज्ञादि कर्मों को करते हैं और मरणोपरान्त उसी पुण्य के प्रभाव से स्वर्गादि-दिव्य लोकों के ऐश्वर्य युक्त भोगों को भोगते हैं ।[2] स्वर्ग में

1- रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।।श्रीमद्०गी० 14/15 ;

2- ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ।।
वही 9/20 ;

देवगणों के सदृश हो ये पुरुष भी वैभव से युक्त विषयों का सेवन करते हैं। मनुष्य जैसे इस मृत्यु लोक में अपने से कम और अधिक सम्पत्तिवान् लोगों से क्रमशः सुख तथा दुःख पाता है उसी प्रकार स्वर्ग में भी अपने से कम और अधिक ऐश्वर्यवान् लोगों से मनुष्य सुख तथा दुःख का अनुभव करता है। जितने पुण्य कर्म रहते हैं, उसी अनुपात में भोगों का भोग वे जीव करते हैं। पुण्यकर्मों का क्षय हो जाने पर वे जिस मार्ग से गये थी उसी मार्ग से पुनः मृत्यु लोक में कर्म करने के लिये लौट आते हैं। इस प्रकार सकाम §उपासना§ कर्म करने वाले जीव बार-म्बार आवागमन चक्र में भ्रमते रहते हैं। जिस मार्ग से ये सकाम कर्मी जीव इस लोक से स्वर्ग को जाते हैं उस मार्ग को 'धूमयान' या पितृयाण' कहते हैं। सकामकर्मी पुण्यात्मा जीव जिस समय स्थूल शरीर का त्याग करते हैं उसी समय इनका सूक्ष्म शरीर धूम का सजातीय होने के कारण पहले धुएं को फिर रात्रि के अन्धकार को फिर कृष्णपक्ष को और दक्षिणायन के छह मासों को मार्ग बनाते हुए चन्द्रलोक चला जाता है। इस सन्दर्भ में यह शङ्का न की जानी चाहिए कि धूम, रात्रि, अन्धकार तथा दक्षिणायन महीने तो वस्तुएं और काल हैं ये मार्ग का बोध कैसे करायेंगे? इसका समाधान भगवान् शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में पहले ही कर दिया है कि जिस मार्ग में धूम, रात्रि अन्धकार तथा दक्षिणायन के महीनों के अभिमानी देवता रहते हैं उस मार्ग को धूमयान इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है। जैसे ही उस सकाम पुण्यात्मा के भोग चन्द्रलोक में समाप्त होते हैं, उसका लिङ्गदेह पुनः कर्म एवम् अन्य अवशिष्ट कर्मों को करने के लिए मर्त्य लोक में लौट आता है। सकामकर्मी उपासक का लिङ्गशरीर सत्त्वगुण की कमी और रजस् तथा तमस् की अधिकता के कारण अन्धकार का सजातीय होता है अतः

अन्धकार में ही चल सकता है[1]।

निष्कामपरायण' पुण्यात्मा जीव ' अपने कर्मों या कर्मफलों को ईश्वर को अर्पित करने वाले होते हैं । इनको उपासना मार्ग के अनुयायी या भक्त भी कहा जा सकता है । ये जीव मृत्यु के अनन्तर ' देवयान ' या अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक जाते हैं । इन जीवों का सूक्ष्मशरीर सत्वगुण की अधिकता के कारण प्रकाश का सजातीय होता है फलत: इनका मार्ग आलोकमय होता है ।ये अग्नि,ज्योति,दिन,शुक्लपक्ष तथा उत्तरायण के छह महीनों के अभिमानी देवताओं से युक्त मार्ग पर चलते हुए ब्रह्मलोक पहुंच जाते हैं ।[2]

मोक्ष — सकाम पुण्यात्मा जीवों की गति कृष्णरूपा और निष्काम पुण्यात्मा अर्थात् उपासना परायण जीवों की गति शुक्लरूपा कही जाती है ।कृष्णगति का गन्तव्य चन्द्रलोक तथा शुक्लगति का गन्तव्य ब्रह्मलोक होता है । यह ब्रह्मलोक हिरण्यगर्भ नामक सगुणब्रह्म का लोक होता है । कृष्णगति से जाने वाले जीव अपना पुण्यफल चन्द्रलोक में भोगकर पुण्यक्षय हो जाने पर फिर मर्त्यलोक में जन्म लेते हैं और संसार चक्र के कर्मफल की श्रृंखला को चालू रखते हैं ।शुक्लगति में यह बात नहीं होती । शुक्लगति से ब्रह्मलोक पहुंचकर फिर वापस मृत्युलोक में नहीं आना पड़ता[3]।वहीं पर ये जीव अपने कर्मफलों को सूक्ष्मशरीर के माध्यम से ही भोगते

1- धूमो रात्रिस्तथा कृष्ण:षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।। श्रीमद्भगी० 8/25 ;

2- अग्निर्ज्योतिरह: शुक्ल:षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना: ।। वही 8/24 ;

3- शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगत: शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुन: ।। वही 8/26 ;

हुए तब तक पड़े रहते हैं जब तक उनका उपास्य सगुण ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ मुक्तिलाभ नहीं करता । तदनन्तर हिरण्यगर्भ के साथ ही साथ स्वयं भी मुक्ति प्राप्त करते हैं । इस मुक्ति को अद्वैतवेदान्तपरम्परा में 'क्रममुक्ति' नाम दिया गया है । जिस जीव को मृत्यु लोक में ही ब्रह्मज्ञान या आत्मसाक्षात्कार सम्पन्न हो जाता है, उसके मरने या शरीरत्याग होने पर उसे कोई गति प्राप्त नहीं होती प्रत्युत् वह ब्रह्मलीन हो जाता है । समस्त गतियों से छुटकारापाकर वह जीव यहीं तत्काल अपने पूर्वनित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है[1]। यह मुक्ति अद्वैतवेदान्त सम्प्रदाय में 'सद्योमुक्ति' नाम से जानी जाती है । सद्योमुक्ति प्राप्त करने वाले जीव का जीवत्व सदा सर्वदा के लिये छूट जाता है, न उसे कहीं जाना होता है और न संसार में फिर कहीं से आना ही पड़ता है[2]।

जीव , ईश्वर और ब्रह्म का अभेद

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि गीता में जीव को कहीं पर ईश्वर की 'पराप्रकृति' कहा गया है और कहीं ईश्वर का अंश । ईश्वर को सभी जीवों का बीज या कारण बताया गया है,तो कहीं जीवों का अन्तिम लक्ष्य । तथापि प्रमुख प्रतिपाद्य के रूप में जीवात्मा को ब्रह्म से अभिन्न तथा

1- वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ।।
श्री मद्‌०गी० 2/28 ;

2- न हि सद्योमुक्ति भाजां सम्यग्दर्शननिष्ठानां गतिःआगतिःवाक्वचिदस्ति 'नतस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इति श्रुतेः ।ब्रह्मसंलीनप्राणा एवं ते ब्रह्ममया ब्रह्मभूता एव ते । श्रीमद्‌०गी० 8/24 पर शङ्कराकृत भाष्य ।

नित्य ही माना और बताया गया है । शरीरी जीवात्मा अपने मूलरूप में ब्रह्म ही है, नित्य और अविनाशी है[1]।

साधना के गीता में भले ही 'कर्मयोग,भक्ति योग' और 'ज्ञानयोग' इत्यादि मार्ग विस्तार से बताये गये हों, जिनमें जीव की ईश्वर से भिन्नता का ही निश्चय सुदृढ होता है, किन्तु स्थल -स्थल पर गीता के वाक्यों से जीव की ब्रह्म से अभिन्नता और जीव का ब्रह्मभाव ही सिद्ध होता है, जीव और ब्रह्म का भेद नहीं ।

1- अन्तवन्त इमे देहा: नित्यस्योक्ता शरीरिण: ।
अनाशिनो प्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ।।
श्रीमद्भ0 2/18 पर शङ्कर भाष्य ;

आचार्य गौडपाद की जीव - विषयक संधारणा

---------x ------- x ------- x -------

जीव काल्पनिक है

आचार्य गौडपाद ने एकमात्र आत्मा को ही पारमार्थिक सत्ता के रूप में स्वीकार किया है ।समस्त चेतन एवं अचेतन जीव -जडात्मक जगत् उनकी दृष्टि में कल्पित हैं । जिस प्रकार रज्जु में आभासित सर्प की कल्पना होती है उसी प्रकार बीजभूत आत्मतत्त्व में चेतनकिरणरूप जीवों की अलग-अलग स्थिति प्रतीत होती है [1]। जीवजडात्मक इस जगत् की परिकल्पना में गौडपाद एक निश्चित क्रम स्वीकार करते हैं । आत्मतत्त्व माया के द्वारा पहले चेतन जीव को कल्पित करता है और उसके बाद अन्य अचेतन भावों की कल्पना करता है[2]।जीवों की वास्तविक उत्पत्ति सर्वथा असङ्गत है ।

आचार्य का कथन है कि जीवों का जन्म वास्तविक न होकर मायिक ही होता है,और तत्त्वत: तो माया भी कहीं नहीं है[3]।ये सभी पदार्थ व्यावहारिक दृष्टि से उत्पन्न होने के कारण अनित्य होते हैं । जीवों की उत्पत्ति काल्पनिक न मानकर वास्तविक मानने पर उनकी मृत्यु भी वास्तविक ही माननी पड़ेगी,परन्तु यह सर्वथा असम्भव है क्योंकि अजन्मा आत्मा जन्म कैसे ले सकता है और कैसे मरण को प्राप्त हो सकता है[4]। अत: जीवजडात्मक जगत् काल्पनिक

1- सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशून्पुरुष:पृथक् । मा०का० 1/6 ;

2- जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान् । वही 2/16 ;

3- धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वत: ।
जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते ।। वही 4/58 ;

4- अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति । वही 3/20 ;

ही है ।

जीव आत्मा का अवयव अथवा विकार नहीं है

जीव वस्तुत: आत्मा ही है ।जो जीवभेद जगत् में दृष्टिगत होता है वह व्यावहारिक है । जीव आत्मा का किसी भी दृष्टि से न तो विकार ही है और न उसका अवयव ही, क्योंकि यदि जीव को आत्मा से उत्पन्न हुआ मानते हैं, तो उसमें दो स्थितियाँ हो सकती हैं; पहली तो यह कि जीव आत्मा का विकार है, जैसे स्वर्ण के विकार रूचकादि आभूषण होते हैं और दूसरी स्थिति में जीव आत्मा का अवयव या अंश है, जैसे वृक्षादि के शाखा, पत्र इत्यादि अवयव होते हैं । आत्मा और जीव के संदर्भ में ये दोनों ही स्थितियाँ अनुपपन्न, असङ्गत एवं असम्भव हैं । इस सम्बन्ध में आचार्य का स्पष्ट कथन है कि जिस प्रकार महाकाश का घटाकाश विकार या अवयव कभी नहीं है उसी प्रकार जीव भी परमार्थ सत् अद्वय आत्मा का विकार या अवयव कभी नहीं है[1]।

जीवत्व का हेतु अविद्या या माया

जीव के जीवत्व का हेतु अविद्या या माया ही है ।परमार्थ अद्वय आत्मतत्त्व माया के कारण ही द्वैत के रूप में भासित होता है, फलत: समस्त जीवजडात्मक जगत् केवल माया या कल्पना मात्र है[2]। यह माया भी परमार्थत: सत् नहीं है ।यह आत्मा की ही एक शक्ति है जिसके द्वारा आत्मा अपने आपको अनेक जीव-

---

1- नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा ।
नैवात्मन: सदा जीवो विकारावयवौ तथा ।। मा0का0 3/7 ;

2- मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थत: । वही 1/17 ;

जडात्मक रूप में कल्पित करता है और उस भेद या भिन्नत्व ज्ञान का साक्षी बनता है[1]।

जीवजडात्मक रूप की यह कल्पना भी अज्ञान के कारण ही होती है । चेतन जीवों की कल्पना को अज्ञान या अविद्या के कारण इसलिये माना गया है कि हम देखते हैं- कोई भी वस्तु जिसका स्वरूप हमें ज्ञात नहीं होता है उसके विषय में अनेकों प्रकार की कल्पनाएं करते हैं तथा उन कल्पनाओं को ही सत्य माने हुए बैठे रहते हैं । इस विषय में गौडपादाचार्य का कथन है कि जिस प्रकार मन्द-अन्धकार में स्वप्न से न जानी जाती हुई रज्जु सर्प,जलधारा आदि अनेक रूपों में लोगों के द्वारा कल्पित कर ली जाती है उसी प्रकार विशुद्ध आत्म-तत्त्व भी अपने सत्स्वरूप से निश्चित न हो पाने के कारण अनन्त जीवजडात्मक रूपों में विकल्पित किया जाता है[2]।

अद्वय: आत्मतत्त्व अपनी शक्ति माया के कारण ही अनन्त चेतन-अचेतन रूपों में जगत् में दृष्टिगत हो रहा है,यह माया शक्ति इतनी प्रभाव-शालिनी व मोहक है कि आत्मा इससे स्वयं ही मोहित हो रहा है[3]।यहाँ आत्मा के मोहित होने से आचार्य का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि आत्मा वस्तुत: ही मोहग्रस्त होता है,वरन् यह है कि अविद्या के कारण आत्मा स्वरूप को भूलकर 'जीव' रूप में कल्पित होता है ।

1- कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देव: स्वमायया । मा०का० 2/12 ;

2- अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता ।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पित: ।। वही 2/17 ;

3- मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहित: स्वयम् ।। वही 2/19 ;

जीव की काल्पनिक उत्पत्ति और लय के दृष्टान्त

आत्मा यद्यपि इस जीवजडात्मक चेतन-अचेतन जगत् प्रपंच का अधिष्ठानभूत है, फिर भी यह उनसे कदापि भिन्न नहीं है । जीव,जीव रूप से सत्य नहीं है,वरन् मिथ्या है,वह आत्मारूप से ही सत्य है ।जैसे रज्जु में कल्पित सर्प सर्प रूप से व्यावहारिक दृष्टि से सत्य होने पर भी परमार्थ रूप से सत्य नहीं है,वरन् मिथ्या है क्योंकि सर्पज्ञान का रज्जुज्ञान के उपरान्त बाध हो जाता है और रज्जु सदैव रज्जु रूप में ही विद्यमान रहती है । ठीक इसी प्रकार जीव की प्रतीति व्यवहारकाल में तो सत्य ही प्रतीत होती है पर आत्मज्ञान होने पर एकमात्र अद्वय-आत्मा ही सत्य होता है । इसीलिये आत्मतत्त्व अद्वैत होने पर भी व्यवहारकाल में जीवजडात्मक रूप में भासित होता है ।

गौडपाद की दृष्टि में जीव भी उसी प्रकार असत्य है जिस प्रकार स्वप्न या मायानगरी ।[1] ये सब,कुछ समय तो सत्य प्रतीत होते है,जब तक दिखाई पड़ते हैं । पर स्वप्न से जागने पर जैसे स्वप्न मिथ्या जान पड़ता है मायावी के द्वारा मायानगरी समेट लेने पर मायानगरीमिथ्या जान पड़ती है या गन्धर्वनगरी जो लोगों के व्यवहार से भरपूर है वह अकस्मात् लुप्त हो जाती है तब असद्रूप प्रतीत होती है वैसे ही आत्मज्ञान के पश्चात् जीव भी असत्य प्रतीत होता है ।

1- स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ।। मा0 का02/31 ;

जीव की उत्पत्ति कितनी सत्य है और कितनी असत्य है, इस विषय में आचार्य गौडपाद का कथन है कि स्वप्न द्रष्टा स्वप्न में जिन-जिन वस्तुओं को देखता है उस समय तो वे एकदम सत्य ही प्रतीत होते हैं पर सोकर उठने के पश्चात् उस स्वप्न का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता है और नितान्त असत्य हो जाता है वैसे ही संसार में जीव का जन्म होता है और वह मृत्यु को प्राप्त होता है । आत्मज्ञान होने पर समस्त व्यावहारिक जगत् मिथ्या प्रतीत होता है[1]। जिस प्रकार एक ऐन्द्रजालिक मायामय जीव की रचना और विनाश करता है उसी प्रकार इस संसार में जीवों की उत्पत्ति और मरण भी मायामय ही है[2]। जिस प्रकार मन्त्र से जीव उत्पन्न किया जाता है और मरता भी है उसी प्रकार ये सांसारिक जीव भी अवास्तविक रूप में उत्पन्न होते हैं और मरते हैं ।[3] उनके कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्वप्नमय, मायामय, और मन्त्रादि से रचे गये जीवों की उत्पत्ति और मृत्यु होती है उसी प्रकार ही समस्त चराचर जीव विकल्पित रूप में ही उत्पन्न होते हुए और मरते हुए समझे जाने चाहिए ।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि जीव उत्पन्न नहीं होता है तो जीव रूप में उसकी प्रतीतिजगत् में कैसे होती है और उसकी उत्पत्ति की कल्पना कैसे होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में गौडपाद का कथन है कि जीव वस्तुत: कभी

1- यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ।। मा०का०4/68 ;

2- यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ।। वही 4/69 ;

3- यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च । वही 4/70 ;

उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि इसका कोई कारण नहीं है[1], परमार्थतः तो वह अद्वय आत्मा ही है । जीव की उत्पत्ति की कल्पना वैसे ही होती है जैसे सूक्ष्म और निरवयव आकाश में घटादि उपाधियों के कारण घटाकाश की कल्पना । अज्ञान के कारण मनुष्यों के द्वारा यह कल्पना कर ली जाती है । क्या कभी निरवयव आकाश के भी अवयव हो सकते हैं ? नहीं । भले ही घट-पट-मठरूप उपाधियों के असंख्य घटाकाश-पटाकाश-मठाकाश आदि अनन्त आकाशों की कल्पना कर ली जाय । इसी प्रकार अद्वय आत्मा भी अवयवों वाला नहीं है फिर भी विभिन्न देहादि-संघातरूप उपाधियों के कारण अज्ञानवश परमात्मा से जीवात्मा भी उत्पन्न हुआ कल्पित किया जाता है । अब इस कल्पना प्रसूत घटाकाश आदि की उत्पत्ति आकाश से ही कही जायेगी । इसी प्रकार देहादि से अवच्छिन्न आत्मा - जिसे -जिसे जीव की संज्ञा दी जाती है - की उत्पत्ति अद्वय आत्मा से ही कही जायेगी । भले ही यह उत्पत्ति वास्तविक दृष्टि से असम्भव, असङ्गतएवम् अयथार्थ है फिर भी कल्पित दृष्टि से घटाकाशादि के दृष्टान्त के समान समझ में आती है[2]।

जब इन जीवात्माओं की उत्पत्ति वास्तविक न होकर काल्पनिक ही होती है तो इनका लय भी अवास्तविक एवं काल्पनिक ही होना चाहिए । इस बात का समर्थन करते हुए गौडपाद कहते हैं कि घटरूप उपाधि के नष्ट होने पर जैसे मठाकाश और घटाकाश में कोई भेद नहीं रह जाता है, वैसे ही -

---

1- न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते ।मा०का०3/48 ;

2- आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः ।
घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम् ।। वही 3/3 ;

' देहादिसङ्घात ' रूप उपाधि के नष्ट हो जाने पर जीव भी परमात्मा में लीन हो जाता है[1]। जीव परमार्थत: और स्वभावत: आकाश के सदृश ही अनादि और अभिन्न है क्यों कि जो पदार्थ सार्वकालिक होता है उसकी उत्पत्ति नहीं होती और आत्मा तो नित्य ही है । अत: जीवों की उत्पत्ति, लय तथा उनमें परस्पर भेद भी स्वाभाविक न होकर उपाधि गत ही हैं ।[2]

उत्पत्ति और विनाश अविद्या निर्मित तथा उपाधिगत हैं

हम देख चुके हैं कि जीव अज्ञान के कारण ही जीवत्व को प्राप्त होता है । देह के प्रति अभिमान ही जीवत्व की भावना का मुख्य कारण है । यहाँ ' देह ' से तात्पर्य ' स्थूल और सूक्ष्म ' दोनों देहों से है । केवल स्थूल देह के नाश से ' जीवत्व ' का नाश नहीं होने वाला है जब तक कि ' सूक्ष्मदेह या लिङ्ग-देह ' नामक उपाधियों का नाश नहीं हो जाता । सूक्ष्म देहधारी को ही 'जीव ' कहते हैं उसके स्थूल देह हो या न हो । भूत,प्रेतादि जीवों के स्थूल देह नहीं होती,और जितने भी स्थूलदेहधारी हैं उन सब के सूक्ष्मशरीर तो होगा ही क्योंकि बिना ' सूक्ष्मदेह ' नामक उपाधि के प्राप्त हुए ' स्थूलदेह ' की प्राप्ति असम्भव है । इसलिये स्थूलदेहधारी प्राणी तो जीव हैं ही । ' जीवत्व ' नामक उपाधि के नष्ट होने पर एक अद्वय आत्मा ही अवशिष्ट रहता है । अत:यह सिद्ध होता है कि उत्पत्ति और प्रलय केवल उपाधियों के ही होते हैं,जीवात्मा के नहीं ।

1- घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा ।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि ।। मा0का0 3/4 ;

2- प्रकृत्याकाशवज्ज्ञेया: सर्वे धर्मा अनादय: ।
विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्वचन किञ्चन ।। वही 4/91 ;

इस प्रकार देहादि-संघात से युक्त होकर ही आत्मा संसार में व्यवहार करता है और जीव की संज्ञा प्राप्त करता है ।ये जीव अनादिकाल से चली आ रही अविद्या के कारण संसार में जन्म होते हैं,स्वकर्म निर्धारित आयु-पर्यन्त जीवित रहकर कर्मों के ही अनुसार भोगों को भोगते हैं और अन्त में मृत्यु को प्राप्त होते हैं । इस तरह जन्म,स्थिति और मृत्यु (लय) रूपी संसारचक्र में जीव अपने मोक्ष-पर्यन्तनिरन्तर भ्रमण करते रहते हैं । जगत् में जितने भी चराचर जीव दृष्टिगत होते हैं वे यहाँ अपने पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के फलस्वरूप नाना योनियों में उत्पन्न होकर सुखदु:खादि का भोग करके सुखी या दु:खी होते हैं । इन भोगों को जीव स्थूल शरीर के माध्यम से भोगता है ।

यहाँ यह संदेह होना स्वाभाविक है कि अनेकों जीव संसार में हर समय सुखी या दु:खी रहते हैं तो जिस समय एक जीव को सुख का अनुभव होता है उसी समय सभी जीवों को सुख का अनुभव होना चाहिए और जब एक जीव दु:खी होता है तब सभी जीव दु:ख का अनुभव अवश्य करते होंगे क्योंकि आत्मा तो एक ही है और सभी शरीरों में वही आत्मा है ? इस विषय में आचार्य का कहना है कि आत्मा अद्वय होने पर भी देहादिसंघात रूप उपाधियों का अभिमानी होने से अनेक रूपों में कल्पित किया जाता है और इन उपाधियों के माध्यम से ही सुखदु:खादि का अनुभव किया करता है । इसीलिये आत्मा के एक होने पर भी एक जीव के एक ही समय में सुखी और दु:खी होने पर सभी जीव सुखी और दु:खी नहीं होते ।जैसे एक घटाकाश के धूल और धुएं से युक्त होने पर समस्त घटाकाश धूमादि युक्त नहीं होते[1]।

1- यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते ।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवा: सुखादिभि: ।। मा0का03/5 ;

आत्मज्ञान से अविद्या की निवृत्ति

जीव की अविद्या की निवृत्ति आत्मज्ञान से ही होती है। उपास्य और उपासना आदि सम्पूर्ण भेद मिथ्या ही है, क्योंकि इससे उपासक की मुक्ति होने वाली नहीं है, उसकी मुक्ति तो केवल आत्मसाक्षात्कार होने पर ही होगी क्यों कि तभी शरीर के प्रति अभिमान का विनाश होगा। हाँ इतना अवश्य होता है कि उपासना से बुद्धि शुद्ध होती है, चित्त एकाग्र होता है और उपासक की मुक्ति सम्भावित अवश्य हो जाती है। विद्वानों की दो श्रेणियाँ मानी गयी हैं। पहला वह है जो ब्रह्म को निर्गुण निराकार, अजन्मा और अद्वितीय मानते हैं। आत्मज्ञान होने पर इनकी मुक्ति तुरन्त हो जाती है। जब इस संसार में शरीर रहते ही ये जीव मुक्त होते हैं तो इन्हें 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है और शरीरपात होने पर 'विदेह मुक्त' कहे जाते हैं। आचार्य का कथन है कि ज्ञान हो जाने पर विद्वान् कोई चेष्टा आसक्तियुक्त होकर नहीं करता है क्योंकि आत्मलाभ के पश्चात् उसका कोई प्रयोजन अवशिष्ट नहीं रह जाता है[1]। अद्वयआत्मतत्त्व का लाभ करने वाला पुरुष (विद्वान्) आत्मस्वरूपा स्वाभाविकी उपशान्ति को प्राप्त करता है[2]। आत्मविद् (विद्वान्) की दूसरी श्रेणी वह है जिसमें वह ब्रह्म (आत्मा) को सृष्टि में सबसे पूर्व उत्पन्न हुआ मानता है जिसे 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं जो कार्य ब्रह्म भी कहा जाता है। आचार्य

1- प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदमद्वयम् ।
अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमीहते ।। मा०का० 4/85 ;

2- विप्राणां विनयो ह्येष शमः प्राकृत उच्यते ।
दमः प्रकृतिदान्तत्वादेवं विद्वाञ्शमं व्रजेत् ।। वही 4/86 ;

गौडपाद के अनुसार उपासना का आश्रय लेने वाला साधक जीव कार्यब्रह्म में ही लीन रहता है और अन्त: शरीरपात के अनन्तर अद्वय ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है[1]।

किन्तु उपासना का उपयोग तो जीव की बुद्धिशुद्धि भर के लिये है । परमार्थ दृष्टि से उपास्य और उपासक भी कल्पनामात्र है । न जीव उत्पन्न होता है और न ब्रह्म ही उत्पन्न होता है । उत्पत्ति और उत्पन्न कल्पनामात्र हैं और जो वस्तु कल्पित होती है वह कभी परमार्थ नहीं हो सकती[2], अत: जीवों की उत्पत्ति कल्पित है । इसीलिये पूर्णज्ञान के द्वारा कल्पना को जन्म देने वाले अज्ञान का नाश हो जाने पर जीव की कल्पना भी असम्भव हो जाती है तब जीव जीव न रहकर केवल शुद्ध अद्वय आत्मा ही रह जाता है । इसके अतिरिक्त उपास्योपासकादि की कल्पना जीव में दीनता का भाव भरती है और स्वयम् असत् भी है । अत: वास्तविक एवं कल्पना रहित ठोस परमार्थ दृष्टि से विचार करते हुए गौडपाद स्पष्ट उद्घोष करते हैं कि जीव और ब्रह्म एक हैं, सम हैं, और ब्रह्म रूपेण शाश्वत सत्य हैं । उत्पत्ति किसी की होती ही नहीं । कल्पना के बलपर जो आदि उत्पत्ति जीव की कही गयी थी, वास्तविक दृष्टि से विचार करने पर जीव भी कभी उत्पन्न नहीं हुआ वह तो सदा अद्वय ब्रह्म था, अद्वय ब्रह्म है और अद्वय ब्रह्म रहेगा[3]।

1- उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते ।
प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपण: स्मृत: ।। मा०का० 3/1 ;

2- योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ । वही 4/73 ;

3- अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति·····। वही 3/2 ;

अनादिकाल से चली आ रही माया के कारण ही जीव को तत्त्वज्ञान नहीं हो पाता, जिससे वह स्वप्न और जागरित दोनों दशाओं में भोगों को भोगता हुआ सुखी और दु:खी होता रहता है । अद्वय आत्मा का ज्ञान उसे जब कभी होता है तभी उसे तत्त्वाप्रतिबोधरूप बीजात्मिका एवं अन्यथाग्रहणरूप, अनादि-काल से प्रवृत्त माया शक्ति रूप निद्रा से छुटकारा मिलता है, और वह परमशान्ति अनुभव करता है । अपने को अजन्मा, निद्रारहित, स्वप्नरहित, और अद्वयरूप मानता है[1]। इस प्रकार आत्मसत्य का बोध होने पर विकल्पसंकल्प नहीं करता और अमनस्ता को प्राप्त होता है ।

अविद्यानिवृत्ति से जीवत्व निवृत्ति और परमार्थ सत्य की अनुभूति

मिथ्या अभिनिवेशमात्र ही जीव के जन्म का कारण है । परमार्थत: तो द्वैत है ही नहीं अत: जिस समय जीव को यह ज्ञात होता है कि आत्मा अजन्मा और मृत्यु रहित है उस समय उसे यह भान होता है कि वस्तुत: तो अद्वयात्मा ही है और सारा द्वैत उसके चित्त का विकल्प मात्र था । इस प्रकार भान होने पर द्वैतविषयक जितनी भी भ्रान्तियाँ थीं उनके निवर्तित हो जाने के कारण और अन्य कोई निमित न होने के कारण जीव फिर से दूसरा जन्म नहीं लेता[2]। अद्वय आत्मा का भान होने पर या यूँ कहा जाय कि अपने स्वरूप का

1- अनादि मायया सुप्तो यदा जीव: प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ।। मा० का० 1/16 ;

2- अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते ।
द्वयाभावं स बुद्ध्वैव निर्निमित्तो न जायते ।। वही 4/75 ;

बोध हो जाने पर समस्त विकल्प और भ्रमजनित व्यवहार लुप्त हो जाते हैं। द्वैत के नष्ट होने पर जीव की सम्पूर्ण कामादि विषयक एषणायें भी विनष्ट हो जाती हैं और वह अखण्डैकरस आत्मानन्द को प्राप्त करता है। जीव का जीवत्व वास्तव में कल्पित है उसका बद्ध होना और मुक्त होना भी काल्पनिक ही है। अज्ञानरूपी आवरण के कारण ही जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है क्योंकि अज्ञान ज्ञान का विरोधी और बाधक है। ज्ञान से ही अज्ञान का नाश हुआ करता है।

अत: जो कुछ भी भेद है वह व्यावहारिक दृष्टि से ही है परमार्थत: उसकी गन्ध भी नहीं है। वास्तविक दृष्टि से न किसी का प्रलय है और न किसी की उत्पत्ति ही होती है इसलिये कोई बन्धन से बँधा हुआ भी नहीं है अत: न कोई साधक या उपासक है और न कोई मोक्ष की इच्छा वाला है तथा न कोई मुक्त ही है। यही परमार्थ सत्य है[1]। जीव के अज्ञान नाश के साथ ही उसे जीवत्व से छुटकारा मिल जाता है। उस ज्ञानी की चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है[2] और ज्ञानी पुरुष अज, अनिद्र, अस्वप्न और स्वयंप्रकाशित हो जाता है[3]। वह ब्रह्मण्य पद को प्राप्त करके रागादि युक्त कोई चेष्टा नहीं करता संसार में उसके समस्त क्रिया-कलाप निष्काम भाव से ही होते हैं क्योंकि प्राप्तव्य अन्य कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती जिसे प्राप्त करने की उसे इच्छा हो।

1- न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक: ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।। मा0का02/32 ;

2- निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थिति: । वही 4/80 ;

3- अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयम् । वही 4/81 ;

आचार्य गौडपाद इस स्थिति को 'अस्पर्श योग' की संज्ञा देते हैं। इसे ही ब्रह्माकारवृत्ति या वृत्तिव्याप्ति कहते हैं। इस योग को अत्यन्त दुष्प्राप्य भी कहते हैं क्योंकि इस अभयपद में भय देखने वाले योगी इस दुर्दर्श योग से भय मानते हैं।[1]

अन्त में आचार्य का यही स्पष्ट उद्घोष है कि आत्मा अविद्यादि बन्धनों से रहित है अत: वह स्वभावत: निर्मल है और निर्मल होने के कारण बुद्ध (ज्ञानवान्) होता है और ज्ञानी होने के कारण मुक्तस्वरूप है[2]। अत: नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्त होना ही आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप है।

1- अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्श: सर्वयोगिभि: ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिन: ।। मा०का० 3/39 ;

2- अलब्धावरणा: सर्वे धर्मा: प्रकृतिनिर्मला: ।
आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुध्यन्त इति नायका: ।। वही 4/98 ;

आचार्य शङ्कर के पूर्ववर्ती अद्वैतवेदान्तियों के मत में जीव का निरूपण :--

आचार्य गौडपाद का जीव की परिकल्पना के सम्बन्ध में मत क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत कर चुकने के अनन्तर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि क्या शङ्कराचार्य के पूर्ववर्ती कुछ अन्य अद्वैत वेदान्तियों ने भी जीव की संधारणा को मुखर एवं सुस्पष्ट किया है या नहीं । ऐसे आचार्यों में आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, काष्र्णाजिनि, काशकृत्स्न तथा बादरि का उल्लेख किया जा सकता है । इन आचार्यों के द्वारा लिखे गये किसी ग्रन्थ का न तो कोई उल्लेख कहीं मिलता है और न इनके ग्रन्थ ही कहीं किसी रूप में समुपलब्ध होते हैं । ब्रह्मसूत्रों में इनका नाम तथा इनका प्रमुख सिद्धान्त अवश्य उल्लिखित मिलता है । इन उल्लिखित सिद्धान्तों में भी सर्वाङ्गीणता एवं व्यापकता का अभाव है । केवल संकेत रूप में ही वे निर्दिष्ट हुए हैं । जीव विषयक इनकी धारणाओं का यथासम्भव आकलन अधोलिखित प्रकार से किया जा सकता है :---

§1§ आत्रेय :- इनका नाम §ब्रह्मसूत्र 3/4/44§[1] में केवल एक बार निर्दिष्ट हुआ है । यहाँ पर जीव की व्यावहारिक स्थिति के विषय में ही चर्चा की गयी है कि उपासनाओं का कर्तृत्व यजमान का होता है न कि ऋत्विक् का । जीव के वास्तविक स्वरूप अथवा ब्रह्म के साथ उसके सम्बन्धादि की चर्चा नाममात्र को भी नहीं की गयी है ।

1- स्वामिनः फल श्रुतेरित्यात्रेयः । ब्र०सू० 3/4/44 ;

§2§ आश्मरथ्य :--

आचार्य आश्मरथ्य का उल्लेख §ब्रह्मसूत्र संख्या 1/2/29 और 1/4/20 में §[1] कुल मिला कर दो बार हुआ है । इनमें से पहला सूत्र परमात्मा की हृदयादि प्रदेश मात्र में अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में है, किन्तु दूसरे सूत्र में जीव के ब्रह्म के साथ सम्बन्ध के विषय में आश्मरथ्य के मतावाद की स्पष्ट सूचना मिलती है कि यदि विज्ञानात्मा जीव परमात्मा अर्थात् ब्रह्म से अन्य होता तो 'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं भवति' इस श्रुति की सिद्धि नहीं हो सकती थी । फलत: विज्ञानात्मा जीव और परमात्मा के अभेदांश को स्वीकृत करके ही 'आत्मावाऽऽरे दृष्टव्य:' श्रुति का अर्थ लगाना चाहिए । तात्पर्य यह है कि जीव और परमात्मा में अंशत: अभेद-सम्बन्ध आश्मरथ्य को अभीष्ट है[2] अर्थात् सार्वकालिक एवं सम्पूर्ण अभेद जीव और परमात्मा में इनको मान्य नहीं है । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आश्मरथ्य जीव और परमात्मा में आंशिक अभेद स्वीकार करते हैं ।[3]

§3§ औडुलोमि:--

आचार्य औडुलोमि का निर्देश §ब्रह्मसूत्र 1/4/21, 3/4/45 और 4/4/6§[4] 3 बार हुआ है । आश्मरथ्य जहाँ जीव और ब्रह्म के बीच में शाश्वत रूप से आंशिक भेद और आंशिक अभेद साथ-साथ स्वीकार करते

1- अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्य: । ब्र0सू0 1/2/29 ;
2- प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्य: । वही 1/4/20 ;
3- तस्मात् प्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं विज्ञानात्मपरमात्मनोरभेदांशेनोपक्रमणमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते । शा0भा0ब्र0सू0 1/4/20 ;
4- उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमि: ।ब्र0सू0 1/4/21 ;
-आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते । वही 3/4/45 ;
चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमि: । वही 4/4/6 ;

हैं वहीं औडुलोमि संसारदशा में जीव का ब्रह्म से भेद और मोक्ष दशा में अभेद मानते हैं अर्थात् जीव और ब्रह्म के बीच में वर्तमान दृष्टि से भेद और भविष्यत् दृष्टि से अभेद स्वीकृत करते हैं । तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी समय जीव और ब्रह्म में भेदाभेद नहीं होता या तो भेद होता है या फिर अभेद होता है । इनका कथन है कि देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघात रूपी उपाधि के सम्पर्क से यथाकथञ्चित्-कलुषित जीवात्मा ज्ञानध्यानादि साधनों के अनुष्ठान के द्वारा निष्कल्मष होकर परब्रह्म रूप हो जाता है[1]। इस प्रकार इनका मत ' भविष्यदभेदवाद ' कहा जा सकता है । पाञ्चरात्र मत में भी इसी प्रकार का जीव ब्रह्माभेद प्रतिपादित हुआ है यथा "आमुक्तेर्भेद एव स्याज्जीवस्य च परस्य च ।मुक्तस्य तु न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावा: " ।

§4§ कार्ष्णाजिनि :-- इनका निर्देश §ब्रह्मसूत्र 3/1/9 में§ केवल एक बार हुआ है[2]। इस सूत्र में' ' रमणीय चरणा: 'इत्यादिश्रुति में' ' चरण ' शब्द 'चरित्र या शील ' का वाचक न होकर अनुपभुक्त कर्माशय अर्थात् अनुशय का द्योतक है ।ऐसा कार्ष्णाजिनि का मत बताया गया है । इतने संकेत से जीव के सम्बन्ध में केवल यह सूचना निकलती है कि वह लोक में विविध कर्म करता है और उनका फलभोग-कर्मसंस्कारों के अनुरूप नाना योनियों में करता है । जीव के वास्तविक स्वरूप और ब्रह्म के साथ उसके सम्बन्ध के विषय में इनका क्या सिद्धान्त है, इस बात की न तो कोई स्पष्ट सूचना समुपलब्ध होती है और न कोई संकेत मिलता है ।

1- तस्मान्निरस्ताशेषप्रपञ्चेन प्रसन्नेनाव्यपदेश्येन बोधात्मनाऽभिनिष्पद्यत इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । शा0भा0ब्र0सू0 4/4/6 ;

2- चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनि: ।ब्र0सू0 3/1/9 ;

§5§ काशकृत्स्न :-- आचार्य काशकृत्स्न का उल्लेख यद्यपि §ब्रह्मसूत्र 1/4/22 में §[1] ही एक बार हुआ है किन्तु यहाँ पर जीव के विषय में काशकृत्स्न का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हुआ है । इनका अभिमत है कि व्यवहार-दशा में भी जीव और परमात्मा का भेद नहीं है वह परमात्मा ही है । परमात्मा ही जीवभाव से अवस्थित है । जीव न तो परमात्मा का विकार है और न उससे भिन्न कुछ है, प्रत्युत् जीव सदैव अविकृत परमात्मा ही है । आश्मरथ्य के मत में जीव परमात्मा से लोक दशा में अंशतः ही अभिन्न हैं । औडुलोमि के मत में तो जीव और ब्रह्म में व्यवहारावस्था में स्पष्टतः भेद और मुक्तावस्था में अभेद माना गया है किन्तु आचार्य काशकृत्स्न जीव और परमात्मा के विषय में पूर्ण अभेद ही प्रतिपादित करते हैं[2]। इस प्रकार ब्रह्म ही जीवरूप में अवस्थित है । जीवब्रह्म का न तो विकार है न उससे भिन्न है न उसमे भिन्नाभिन्न है और न वर्तमान में भिन्न और भविष्यत् में अभिन्न है ।काशकृत्स्न के इस पूर्णाभेद की प्रशंसा करते हुए आचार्य शङ्कर ने इनके मत को ही श्रुत्यनुकूल बताया है[3]।

1- अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः । ब्र0सू01/4/22 ;

2- काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम् । शा0भा0ब्र0सू0 1/4/22;

3- तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते प्रतिपिपादयिषितार्थानुसारात् 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिभ्यः । वही 1/4/22 ;

§6§ बादरि :-- बादरि का उल्लेख ब्रह्मसूत्र 1/2/30;3/1/11 4/3/7,4/4/10 में §[1] चार बार हुआ है किन्तु ब्रह्मसूत्र 4/4/10 के अतिरिक्त अन्य तीनों स्थलों में केवल ब्रह्म विषयक चर्चा है उससे जीव के विषय में कोई प्रकाश नहीं पड़ता । हाँ चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद वाले सूत्र में उल्लिखित बादरि का मत जीव के विषय में कुछ स्पष्ट जानकारी देता है । इसके अनुसार जीव की सगुण ब्रह्म लोक में स्थिति का निरूपण हुआ है । सगुणोपासना से प्राप्त ब्रह्मलोक में पहुँचकर जीव शरीरधारी होता है अथवा शरीरेन्द्रिय से रहित होता है इस विषय पर बादरि का स्पष्ट मत है कि सगुणोपासना के फलस्वरूप प्राप्त क्रममुक्ति की स्थिति में जीव ब्रह्मलोक में स्थूल शरीर से रहित रहता है । उसके समस्त भोग केवल मनसा सम्पन्न होते हैं ।[2]

जैमिनि :-- आचार्य जैमिनि की चर्चा इस सन्दर्भ में सर्वथा अप्रासङ्गिक न होगी जैमिनि सूत्रकार बादरायण के समकालीन थे इनका भी उल्लेख ब्रह्मसूत्र में 11 बार हुआ है । यद्यपि ये पूर्वमीमांसा शास्त्र के प्रवर्तक माने गये हैं तथापि वेदान्त-सूत्रों में उल्लिखित होने के कारण इस प्रसङ्ग में वेदान्ती परम्परा वाला माना जा सकता है । अत: इनके जीव-सम्बन्धी विचार भी उल्लिखित किये ही जाने चाहिए । सुषुप्ति काल में जीव ब्रह्म से एक एवं अभिन्न हो जाता है[3]। ब्रह्मज्ञान

1- अनुस्मृतेर्बादरि: । ब्र0सू0 1/2/30
सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरि: । वही 3/1/11 ;
कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्ते: । वही 4/3/7 ;
अभावं बादरिराह ह्येवम् । वही 4/4/10 ;
2- तत्र बादरिस्तावदाचार्य: शरीरस्येन्द्रियाणां चाभाव महीयमानस्य विदुषो मन्यते । शा0भा0ब्र0सू0 4/4/10 ;
3- सुषुप्तिकाले च परेण ब्रह्मणाजीव एकतां गच्छति । वही 1/4/18 ;

से जीव का मोक्ष स्वीकार करते हुए भी ब्रह्मज्ञान के लिये जीव को संन्यासाश्रम स्वीकार करने की अनिवार्यता जैमिनि नहीं मानते[1]। फिर भी यदि संन्यासाश्रम ग्रहण ही कर लिया गया तो उससे च्युत होने की अनुज्ञा जैमिनि नहीं देते[2]। जैमिनि के अनुसार जीव की परम गति का विषय परब्रह्म ही है अपरब्रह्म या सगुण ब्रह्म नहीं ।[3]

मुक्त जीव ब्रह्मरूप हो जाता है । साथ ही यह भी केवलस्मरणीय है कि जैमिनि उसे मुक्तावस्था में भी चिन्मात्र रूप नहीं मानते प्रत्युत उसमें ब्राह्मधर्मों[4] अर्थात् सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व आदि से युक्त मानते हैं ।

1- एतमेव ' प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्त: प्रव्रजन्ति (बृ0 4/4/22) इति लोकसंस्तवोऽयं न प्राव्राज्यविधि: । भा0भा-पृ 3/4/18 ·

2- तद्भूतस्य तु प्रतिपन्नोर्ध्वरेतोभावस्य न कथंचिदप्यतद्भावो- न तत: प्रच्युति: स्यात् । वही 3/4/40 ·

3- जैमिनिस्त्वाचार्य: ' स एनान्ब्रह्म गमयति (छा0 4/15/5) इत्यत्र परमेव ब्रह्म प्रापयतीति मन्यते । 4/3/12 ·

4- स्वमस्य रूपं ब्राह्ममपहतपाप्मत्वादि सत्यसंकल्पत्वावसानं तथा सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं च तेनस्वरूपेण भिनिष्पद्यत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते:) वही 4/4/5 ;

मण्डनमिश्र :--[800ई०]

मण्डन मिश्र आचार्य शङ्कर के समकालिक अद्वैतवादी थे । उन्होंने 'ब्रह्मसिद्धि' नामक ग्रन्थ की रचना की थी । मण्डन ब्रह्म की अद्वयता के प्रबल समर्थक थे । इनके मत को 'दृष्टिसृष्टिवाद' का मूल कहा जा सकता है । मण्डन के अनुसार समस्त प्रतीयमान द्वैत अविद्या की कल्पनामात्र ही है । अद्वितीय एक आत्मचैतन्य ही अविद्या के वशीभूत होकर अनेकजीवों के रूप में तथा ईश्वर रूप में प्रतीत होता है । जैसे रज्जु में सर्प तथा उसके ज्ञान की उत्पत्ति एक ही अविद्या या अज्ञान के द्वारा होती है, उसी प्रकार जीव, जगत् तथा उसके ज्ञान की उत्पत्ति एक ही अनादि अज्ञान के द्वारा होती है। इस मत के अनुसार समस्त दृष्ट - प्रपञ्चजाल की प्रातिभासिकी सत्ता' ही स्वीकार की जानी चाहिए । यह जगत् प्रातिभासिक सत्ता वाला होने के कारण साक्षिभास्य है । इस मत में जगत् की व्यावहारिक सत्ता का निषेध किया गया है ।अविद्या के अन्तर्गत ही ज्ञेय वस्तु प्रतीत होती है और उसके लिये 'यह विषय है 'ऐसा व्यवहार किया जाता है । कोई भी ज्ञान हमको इसी प्रकार प्राप्त होता है । परन्तु यदि वास्तविक रूप से देखा जाय तो दृष्टि अथवा ज्ञान से बाहर किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है । दृष्टि तथा ज्ञान में प्रतिभाससमानत्व ही उसका अस्तित्व है ।

मण्डन मिश्र के मत में जीव का मिथ्या-विषय-दर्शन ही मिथ्याविषय सृष्टि का मूल है । जाग्रत् अवस्था का ज्ञान भी स्वप्नकाल में देखे गये पदार्थों के ज्ञान की भाँति ही है । स्वप्नकालिक विषय जिस प्रकार से सत्य न होकर मन के द्वारा

कल्पित ही होते हैं, उसी प्रकार जाग्रत्काल के विषय भी अविद्या-कल्पित होते हैं। ब्रह्म की जीवभाव से प्रतीति भी मिथ्या है, सत्य तो केवल 'ब्रह्म' ही है। जीव के मिथ्या होने के कारण विषय का दर्शन तथा विषयों के भोगादि का भी मिथ्यात्व सिद्ध होता है और इस प्रकार से जब तक जीव का मिथ्याविषय दर्शन होता रहेगा तब तक दृश्य-प्रपञ्चों का अस्तित्व भी रहेगा। जैसे ही दृष्टा जीव का नाश होगा, वैसे ही प्रपञ्च का भी विनाश हो जायेगा। इस तरह 'विश्व की सृष्टि का कारण जीव की दृष्टि ही है।' यही मत 'दृष्टिसृष्टिवाद' कहलाता है। इस मत के अनुसार केवल 'मैं' का अभिमान करने वाला द्रष्टा जीव ही सक्रिय तथा प्राणवान् है। उससे भिन्न अन्य समस्त जीव तथा प्रतीयमान सम्पूर्ण जगत् स्वाप्नविषयों की भाँति निर्जीव तथा निःसार होते हैं। द्रष्टा जीव से भिन्न कोई जीव नहीं है इसलिये यह मत 'एकजीववाद' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

वाचस्पतिमिश्र के मत में भी अविद्या का मूल पूर्वपूर्व विभ्रम संस्कार ही है। विभ्रम संस्कार का चक्र अनादिकालिक ही होता है। जीव के विभ्रम संस्कार के अनुरूप ही दृश्य जगत्प्रप च का निर्माण होता है। उपाधिभेद से जीवों के बहुत होने के कारण अविद्या भी प्रत्येक जीव में (बुद्धिरूप से) भिन्न होती है और अविद्या के संस्कार से उत्पन्न दृश्यजगत् प्रपञ्च भी प्रत्येक जीव में भिन्न होता है। वाचस्पतिमिश्र के इस मत को भी कुछ आचार्य दृष्टिसृष्टिवाद' कहते हैं, परन्तु यह तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि मण्डनमिश्र के समान आचार्य वाचस्पति ने केवल ज्ञानकाल में ही ज्ञेय विषय की सत्ता को नहीं स्वीकार किया है। उनके मत में ज्ञात न होने की अवस्था में भी विषय की सत्ता मानी

गयी है । इसलिये जगत्प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता को भी वाचस्पतिमिश्र ने स्वीकार किया है । दृष्टिसृष्टिवाद में तो ज्ञेयविषय की सत्ता ज्ञानकाल में ही स्वीकार की जाती है । वाचस्पति मिश्र ने उपाधि भेद से जीवों का अनेकत्व स्वीकार किया है परन्तु मण्डन के दृष्टिसृष्टिवाद में बहुजीववाद को न स्वीकार करके 'एकजीववाद' ही स्वीकार किया गया है ।

दृष्टिसृष्टिवाद में प्रत्यक्षज्ञान और ज्ञेयविषयादि के विभ्रममात्र को ही स्वीकार किया गया है । जिससे वेदोक्त याग तथा स्वर्गादि फलों का मिथ्यात्व सिद्ध होता है और इस स्थिति में वेदों की अप्रामाणिकता भी सिद्ध होती है । इस कारण चित्सुखाचार्यादि ने दृष्टिसृष्टिवाद का समर्थन नहीं किया है । इनके अनुसार परमेश्वररचित जगत् की सृष्टि जीव की दृष्टि का विभ्रम-मात्र नहीं है ये आचार्य इसकी व्यावहारिक सत्ता भी अवश्य ही स्वीकार करते हैं । सगुण मायामय परमेश्वर इस जगत् की सृष्टि करता है और उस ‖ सृष्टि में ‖ जीव दिखायी पड़ते हैं । यह मतवाद 'सृष्टिदृष्टिवाद' कहा जाता है । सर्वज्ञात्म मुनि ने भी जडात्मक जगत् के मिथ्यात्व को स्वीकार किया है परन्तु उसको मन: कल्पित नहीं माना है । इन्होंने भी जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकृत किया है ।

आचार्य मण्डन अविद्या का आश्रय 'जीव' को मानते हैं । उनका कथन है कि जीव अविद्या के कारण ही मोहग्रस्त होता है, उसी के कारण जीव संसार के 'बन्धन' में बँधता है तथा विद्या की प्राप्ति से उस अविद्या की निवृत्ति होती है, और वही ‖निवृत्ति‖ जीव का 'मोक्ष' कहलाती है[1]।

1- तस्मादविद्यया जीवा: संसारिण:, विद्यया मुच्यन्ते ।
ब्रह्मसिद्धि पृ0 12 ;

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि अविद्या के द्वारा ही जीव आवागमन के चक्र में फँसते हैं । यह अविद्या जीवों में नैसर्गिक होती है, क्योंकि जीव स्वयं अविद्या से उत्पन्न होते हैं ।[1]

मोक्ष :--

मोक्ष के विषय में मण्डन का कथन है कि अविद्या का नाश ही जीव का ' मोक्ष ' है क्योंकि अविद्या से ही संसार की उत्पत्ति होती है । इन के अनुसार अविद्या का नाश केवल विद्या का उदय है , अन्य कुछ नहीं ।[2] ब्रह्मसिद्धि में मण्डन मिश्र ने जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में दो विरोधी विचार प्रस्तुत किये हैं । एक ओर तो वे ' सद्योमुक्ति ' का समर्थन करते हुए जीवन्मुक्तिका निराकरण करते हैं, दूसरी ओर उनके द्वारा ' जीवन्मुक्ति ' का भी प्रतिपादन किया गया है । उनके मत में ' विदेहमुक्ति ' ही वास्तविक मुक्ति है । गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ को वे सिद्ध (मुक्त) पुरुष न मानकर साधक ही स्वीकार करते हैं ।[3] जीव का वास्तविक मोक्ष वे तभी मानते हैं जब उसकी शरीरादि से भी मुक्ति हो जाय । सद्योमुक्ति का समर्थन करते हुए मिश्र जी कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान होने पर प्राणी के समस्त संचित, क्रियमाण एवं प्रारब्ध कर्मों का नाश हो जाता है । (इस सन्दर्भ में वे उपनिषदों के कुछ उद्धरण भी प्रस्तुत करते हैं)।[4] समस्त कर्मों के क्षीण

1- न हि जीवेषु निसर्गजा विद्यास्ति । अविद्यैव हि नैसर्गिकी ।ब्रह्मसिद्धि पृ॰12

2- अविद्यास्तमय एव मोक्षः, यतोऽविद्यैव संसारः ।अविद्यास्तमयस्तु विद्योदय एव नान्यः । वही पृ0 119 ;

3- स्थितप्रज्ञस्तावन्न विगलितनिखिलाविद्यः सिद्धः, किन्तुसाधक एवावस्था-विशेषं प्राप्तः स्यात् । वही पृ0 130 ;

4- यतश्चाविद्योच्छेदेनैव कर्मोच्छेदः, अतस्तुल्यवत् संशयविपर्यासाभ्यां प्रसंख्यातानि कर्माणि ' क्षीयन्तेचास्य कर्माणि(मुं॰ 2/2/9) इति।ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा.( )।ब्रह्मसिद्धि पृ0130)

होते ही जीव का देहपात हो जाता है और उसे ' विदेहमुक्ति ' की प्राप्ति हो जाती है । ब्रह्मसिद्धि में मिश्र जी आगे स्वयं ही सद्योमुक्ति सम्बन्धी मत का निराकरण करते हुए जीवन्मुक्ति का प्रतिपादन करने वाला ‖छा०उ०का ‖ उद्धरण प्रस्तुत करते हैं ।[1] ये दोनों ही मत परस्पर विरोधी विचारधारा वाले हैं । एक मत में ज्ञानप्राप्ति के तत्काल बाद ही मुक्ति होती है और दूसरे मत में प्राणी की मुक्ति तो हो जाती है, पर उसे ' देहपात ' की प्रतीक्षा रहती है । यही मुक्ति जीवन्मुक्ति कहलाती है । ' नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि० ' इस स्मृति-वाक्य के अनुसार भले ही आत्मज्ञान हो जाये और संचित तथा क्रियमाण कर्म नष्ट हो जायें, परन्तु प्रारब्ध कर्म बिना भोगे हुए कभी नष्ट नहीं होते हैं ।

मण्डन मिश्र का जीन्मुक्ति का सिद्धान्त आचार्य शङ्कर के जीवन्मुक्ति के मत से भिन्न है । शङ्कर का कहना है कि जीवन्मुक्ति की अवस्था में जो प्रारब्ध कर्मों के रूप में अविद्यालेश है वह प्राणी में बाहरी अथवा भीतरी किसी भी प्रकार का बन्धन उत्पन्न करने में असमर्थ है । किन्तु ज्ञानाग्नि से दग्ध न हुए प्रारब्ध-कर्मों का भोग तो अवश्य ही करना पड़ता है ।

1- ' तस्य तावदेव चिरम् यावन्न विमोक्ष्ये.... ।' छा०उ० 6/14/2 ;

मण्डन के अनुसार उसअविद्यालेश के ही कारण जीवन्मुक्ति प्राणी को शरीर धारण किये रहना पड़ता है और ब्रह्मसाक्षात्कार के साथ ही उस अविद्यालेश की पूर्णरूपेणनिवृत्ति हो जाती है । इसी अविद्यालेश के कारण जीव प्रारब्धकर्मों को भोगता है । मिश्र जी की मान्यता है कि जीवन्मुक्ति की अवस्था में नष्ट हुई अविद्या का संस्कार ही शेष रहता है जो तत्वदर्शन से समाप्त हो जाता है[1]।

1- स च संस्कारोऽल्पकालस्थायि, नच तन्निवृत्तौ हेत्वन्तरमपेक्ष्यते ।तत्वदर्शना-देव, स्वयमेव वा तस्यापि निवृत्तेः ।सा चेयमवस्था जीवन्मुक्तिरिति गीयते । कारणविगमेऽपिकार्यशेषानुवृत्तिः संस्कारात् अतोलब्धवृत्तिकर्म संस्कारात्,तद्विपाक संस्काराद् वा विदुषोऽपि शरीरस्थितिः ।

ब्रह्मसिद्धि पृ0 132 ;

पञ्चम अध्याय

आचार्य शङ्कर की विवेचना में जीव का स्वरूप निर्धारण

आचार्य शङ्कर की विवेचना में जीव का स्वरूप निर्धारण [788-820ई०]

जीव का वास्तविक स्वरूप :--

पारमार्थिक दशामें आचार्य शङ्कर के मत में जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है वरन् ब्रह्म रूप ही है । उपनिषदों में जीव को अजन्मा, नित्य तथा अविकारी कहा गया है[1]। तथा नामरूपात्मक-जगत् की सृष्टि के पश्चात् ब्रह्म की शरीर में जीव रूप से अवस्थिति कही गयी है[2]। इसके अतिरिक्त यह आत्मा ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ ,तुम वही हो[3]इत्यादि श्रुतियाँ भी स्पष्टत: जीव ब्रह्मैक्य का ही प्रतिपादन करती हैं ।

उपर्युक्त श्रुतियों से तथा शङ्कर के द्वारा प्रतिपादित 'जीवो ब्रह्मैव नापर: ' इस सिद्धान्त से यह कदापि नहीं समझा जाना चाहिए कि जीव अपनी व्यवहार-दशा में भी ब्रह्म से अत्यन्त अभिन्न है । व्यावहारिक जगत् में जीव और ब्रह्म का भेद तो शङ्कर को भी मान्य है ।आचार्य शङ्कर के अनुसार अविद्या से कल्पित शारीरकर्त्ता,भोक्ता विज्ञानात्मा से परमात्मा भिन्न है[4]। यह कल्पित भिन्नता ठीक उसी प्रकार जैसे घटरूप उपाधि से परिच्छिन्न आकाश से उपाधि रहित महाकाश भिन्न है[5]।वस्तुत: विज्ञानात्मा तथा परमात्मा के

1- अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराण:·· ·।क०उ० 2/10 ·

2- तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।{तै०उ०2/6/1} अनेन जीवेनात्मनानुऽप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि । छा०उ० {6/3/2}

3- अयमात्माब्रह्म ।{बृ०उ०2/5/19},तत्त्वमसि{छा०उ०6/8/7} अहं ब्रह्मास्मि { बृ०उ० 1/4/10 }

4- परमेश्वरस्त्वविद्या कल्पताच्छारीरात्कर्तुर्भोक्तुर्विज्ञानात्माख्यादन्य: । { ब्र०शा०भा०1/1/17 }

5- यथा वा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधिरपरिच्छिन्न आकाशोऽन्य: {वही 1/1/17 }

अभिन्न होने पर भी व्यावहारिक-काल में जीव का सम्पर्क अविद्या-काम-कर्मादि से हो जाने पर ही उसमें मरण और भय अध्यारोपित हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप जीव अमृतत्व और अभयत्व से रहित सा हो जाता है[1]।

आचार्यशङ्कर ने जीव को परमात्मा या शुद्ध-ब्रह्म का आभास बताया है वह जीव दर्पण में प्रविष्ट हुए पुरुष के प्रतिबिम्ब के समान तथा जल में पड़े हुए सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान ही बुद्धि आदि भूतमात्राओं के संसर्ग से उत्पन्न होता है[2]। बुद्धि से संसर्ग हुए बिना ब्रह्म 'जीवत्व' नामक उपाधि से युक्त नहीं हो सकता अर्थात् बुद्धि ही एक ऐसा माध्यम है जिसमें प्रतिबिम्बित होकर ब्रह्म 'जीव' संज्ञा को प्राप्त करती है। इस प्रकार जीव को, बिम्ब रूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होने के कारण न तो साक्षात् ब्रह्म ही कहा जा सकता है और न उससे नितान्त भिन्न वस्तु ही[3]। शङ्कराचार्य माण्डूक्योपनिषद् के भाष्य में कहते हैं कि कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता है अर्थात् किसी भी प्रकार से कर्ता भोक्ता की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि इस अजन्मा आत्मा का कोई कारण नहीं है, जैसे लोक में हम देखते हैं कि जो भी वस्तु उत्पन्न होती है उसका कोई न कोई कारण भी रहता है[4]। इसलिये जीव

1- यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽनन्य एव तथाप्यविद्याकामकर्मकृतं तस्मिन्मर्त्यत्वमध्यारोपितं भयं चेत्यमृतत्वभयत्वे नोपपद्यते।
§ ब्र०शा०भा० 1/2/17 §

2- जीवो हि नाम देवताया आभासमात्रम्। बुद्ध्यादि भूतमात्रासंसर्गजनित - आदर्श इव प्रविष्टः पुरुषप्रतिबिम्बो जलादिष्विव च सूर्यादीनाम्।
§ शा०भा०छा०उ०6/3/2 §

3- आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः। न स एव साक्षात्। नापिवस्त्वन्तरम्। वही ब्र०सू०2/3/17/50 ;

4- न कश्चिज्जायते जीवः कर्ता भोक्ता च नोत्पद्यते केनचिदपि प्रकारेण। अतः स्वभावतोऽजस्यास्यैकस्यात्मनः सम्भवः कारणं न विद्यते नास्ति।
§शा०भा०मा०उ०3/48 ;

नहीं उत्पन्न होता वरन् वह उपाधियाँ उत्पन्न एवं नष्ट होती हैं जिनसे जीव अवच्छिन्नरहता है ।

चूँकि जीव वस्तुत: ब्रह्म ही है अत: चैतन्य स्वरूप होना उसका स्वाभाविक धर्म है । ब्रह्म सचिदानन्दस्वरूप होता है और जीव चूँकि बुद्धयादि अचेतन तत्वों के धर्मों को स्वगत समझ लेता है, इसलिये उसके सत् और चित् अर्थात् चैतन्य रूप धर्म तो विद्यमान रहते हैं पर आनन्द - रूपता तिरोहित हो जाती है । जीव अचेतन शरीर का स्वामी है । शरीर में जो चेतना हमें प्रतीत होती है वह शरीर और बुद्धयादि जड़-उपाधियों की न होकर आत्मा की होती है, क्योंकि जिस समय शरीर 'जीव' से रहित हो जाता है अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जाता है उस समय शरीर निश्चेष्ट हो जाता है । चेतनता को जड़ उपाधियों का धर्म मानने पर उस (चेतनता) को शरीर का साथ कभी नहीं छोड़ना चाहिए और ऐसा मानने पर मृत्यु का अभाव हो जायेगा, इसलिये यह चेतनता जीवात्मा का ही धर्म मानना सर्वथा उचित है । मृत्यु के समय शरीर में से 'प्राण' भी जीव का अनुगमन करते हुए ही बाहर निकलते हैं ।[1] इस प्रकार चेतन जीव शरीर का अध्यक्ष या स्वामी तो है ही साथ ही साथ प्राणों को धारण करने वाला भी सिद्ध होता है[2]।

1- यस्योत्क्रमणमनुप्राणाद्युत्क्रमणम् .... । शा॰भा॰बृ॰उ॰ 4/3/35 ;

2- जीवो हि नाम चेतन: शरीराध्यक्ष:प्राणानांधारयिता .. ।
वही 1/1/5/7 ;

जीव को अंगूठे के परिमाण वाला कहा गया है जो सभी प्राणियों के हृदय प्रदेश में स्थित रहता है । इस शरीर में शयन करने के कारण ही उसे पुरुष भी कहा जाता है[1]। यहाँ यह न समझा जाना चाहिए कि जीव का स्वरूप ही अङ्‌गूठे के परिमाण वाला है वरन् उस हृदय प्रदेश का आकार अङ्‌गूठे के सदृश है जिसमें जीव निवास करता है । जीव की सूक्ष्मता की तुलना आराग्र और बालके सौवें भाग के पुन: सौ भाग किये जाने पर उसमें संख्क हिस्से से की गयी है । इस प्रकार जीव का स्वरूप सूक्ष्मतम है जो कभी दृष्टि गोचर नहीं हो सकता केवल अनुभव कियाजा सकता है[2]।

जीव को ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न नहीं कहा जा सकता क्योंकि बुद्धि आदि उपाधियों से परिच्छिन्न होकर ब्रह्म ही, कर्तृत्व भोक्तृत्व से युक्त जीव बन जाता है[3]। यही जीव बुद्धि आदि उपाधियों से युक्त होकर प्रतिशरीर में रहता

1- (क) अंगुष्टमात्रो रवितुल्यरूपो ज्योतिस्वरूप.. ..जनसूर्य इव जीवत्मा-संभावित इति । शा०भा०श्वे०उ० 5/8 ;

(ख) अङ्‌गुष्ठमात्रोऽभिव्यक्तस्थानहृदय सुषिरपरिमाणापेक्षमा पुरुष पूर्णत्वात्पुरि शयनाद्वा अन्तरात्मा सर्वस्यान्तरात्मभूत:स्थित: । सदा जनानं । हृदये संनिविष्ट: । वही 3/13 ;

स चात्मास्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहित आत्मभूत: स्थित । वही 3/20 ;

अङ्‌गुष्ठपरिमाणं हृदयपुण्डरीकं तच्छिद्रवर्त्यन्त: करणोपाधि: । शा०भा० क०उ० 2/1/12 ;

2- आराग्रमात्र:प्रतोदाग्रप्रोतलोहं कण्टकाग्र मात्रोऽपरोऽपि ज्ञानात्मनात्मा दृष्टोवगत: । शा०भा० श्वे०उ० 5/8 ;
वालाग्रस्य शतकृत्वो भेदमापादितस्य ।

3- बुद्ध्यादि उपाधि कृतं तु विशेषमाश्रित्य ब्रह्मैव स जीव: कर्ता भोक्ता च । वही 1/1/11/31 ;

हुआ कर्मफलों का उपभोग करता है तथा[1] उपाधि युक्त होने के कारण परिच्छिन्न ज्ञान वाला और सर्वज्ञत्व से रहित होता है इसके अतिरिक्त जीव लोक में ज्ञाता या मुमुक्षु के रूप में भी प्रसिद्ध है[2]।

आचार्य शङ्कर समस्त अनुभवों में उपलक्षित आत्मा तथा अन्तर्दृष्टि द्वारा ज्ञात आत्मा एवं 'आध्यात्मिक विषयी मैं' तथा 'मुझको' में भेद करते हैं। 'अहम्प्रत्यय' का विषय विशुद्ध आत्मा या साक्षी नहीं है वरन् क्रियाशील कर्ता तथा फलोपभोग करने वाला जीवात्मा है या वह आत्मा है जिसमें विषय-निष्ठ गुणों का समावेश है। हमारी आत्म चेतना एक क्रियाशील चेतना है जो किसी उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास करती है। यह लौकिक आत्मा ही सब क्रियाओं का कर्ता है[3]। यदि कर्तृत्व ही आत्मा का तात्त्विक रूप होता तो उससे जीव को कभी मुक्ति न मिलती। जब तक जीव अपने को कर्तृत्व से मुक्त नहीं कर लेता अर्थात् स्वरूप की जानकारी नहीं कर लेता तब तक अपने उच्चतम लक्ष्य अर्थात् ब्रह्मत्व को नहीं प्राप्त कर पाता। जीवात्मा का सम्बन्ध बुद्धि से तब तक बना रहता है जब तक कि सत्यज्ञान के द्वारा संसार समाप्त नहीं हो जाता है। मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा का संबन्ध बुद्धि के साथ बना रहता है

1- क्षेत्रज्ञो हि कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च प्रतिशरीरं बुद्ध्याद्युपाधिसंबद्धो.....
शा०भा०बृ०उ० 1/3/7 ;

2- प्राणभृत्सन्मुमुक्षुत्वाज्ज्ञाता ..... वही 1/3/5 ;

3- इयमहंकर्ताऽहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निर्वर्त्यन्ते तत्फलम्.... ।
ब्र०सू०शा०भा० 1/1/4 ;

और मोक्ष के समय ही समाप्त होता है । उपाधियों के नष्ट होते ही जीवत्व तत्क्षण नष्ट हो जाता है क्योंकि उपाधि के बिना जीवभाव सम्भव ही नहीं है[1]। अतः आत्मा का कर्तृत्व उपाधि निमित्तक है[2]। माण्डूक्योपनिषद् की कारिकाओं के भाष्य में आचार्य का कथन है कि जीव की वास्तविक उत्पत्ति तो असम्भव है क्योंकि उपाधि के सम्पर्क से ही तो जीवत्व की प्राप्ति होती है । परमात्मा आकाश के समान सूक्ष्म निरवयव और सर्वगत कहा गया है तथा वही घट रूप देहसंघात में घटाकाश सदृश क्षेत्रज्ञ जीवों के रूप में उत्पन्न हुआ कहा जाता है । अर्थात् जिसप्रकार घटाकाशों के रूप में आकाश उत्पन्न हुआ है उसी प्रकार परमात्मा जीव रूप में उत्पन्न हुआ है । और जिस प्रकार घटादि के नाश से घटाकाशादि का नाश होता है उसी प्रकार देहादि संघात के नाश (लय) होने पर जीवों का आत्मा में लय हो जाता है[3]। यहाँ देहादि संघात का अर्थ लिङ्गदेह या सूक्ष्म - देह ही समझा जाना चाहिए क्योंकि जीवत्व कीउत्पत्ति और नाश लिङ्ग देह की उत्पत्ति और नाश पर ही निर्भर करता है । स्थूल देह या पञ्चभौतिक शरीर की उत्पत्ति और नाश अर्थात् जीवन और मृत्यु का

1- नहि निरुपाधिकः शारीरो नाम भवति । ब्र0सू0शा0भा 1/3/12 ·
यावदयमात्मा संसारी भवति यावदस्य सम्यग्दर्शनेन संसारित्वं न निवर्तते तावदस्यबुद्ध्या संयोगो न शाम्यति । · परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधि सम्बन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणास्ति । वही 2/3/30 ·

2- तस्मात्कर्तृत्वमप्यात्मन उपाधिनिमित्तमेवेति । वही 2/3/40 ·

3- यथा घटाद्युत्पत्त्याघटाकाशाद्युत्पत्तिः यथा वा घटादिप्रलये घटाकाशादि-प्रलयस्तद्वद्देहादि संघातोत्पत्त्या जीवोत्पत्तिस्तत्प्रलये च जीवानामिहात्मनि प्रलयो न स्वतः । शा0भा माण्डूक्यो0 3/4 ;

चक्र तो निरन्तर चलता ही रहता है । जीव एक जन्म में एक का शरीर धारण करेगा तो दूसरे जन्म में उससे भिन्न । परन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में एक बार जो सूक्ष्म शरीर या लिङ्गदेह मिल जाता है तो जीव के साथ उसका सम्बन्धविच्छेद तभी होता है जब आत्मसाक्षात्कार के द्वारा उपाधि का नाश हो जाता है ।

इसी प्रकार अहं - प्रत्यय वाले अन्तः करण का, अन्तः करण की सम्पूर्ण वृत्तियों के साक्षी-भूत प्रत्यगात्मा में अध्यास या आरोप किया जाता है[1]। नाम रूप से अभिव्यक्त यह जगत् अनेक कर्ता और भोक्ताओं से संयुक्त है ।' अनेक कर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य ' वाक्य से जीव के अनेकत्व की ओर भी संकेत मिलता है[2]। अविद्या, कामना या इच्छा और कर्म के फलस्वरूप प्राप्त, शरीर और इन्द्रिय रूप उपाधि से युक्त संसारी या जगत् में संसरण करने वाला आत्मा अर्थात् बारम्बार संसार में आने वाला ' जीव ' कहलाता है[3]। ' जीव ' शरीर में रहता है, उसी शरीर के माध्यम से कर्म करता है और कर्मफलों का उपभोग करता है क्योंकि यह भौतिक शरीर ही जीव का आश्रय है[4]। जीव के प्रति उपाधियों की परिच्छिन्नता आकाश के प्रति घटादि उपाधियों की भाँति ही है । जिस प्रकार अपरिच्छिन्न आकाश भी घट, कमण्डलु आदि उपाधियों की अधीनता के वश होकर

1- एवमहंप्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि •• ••। शं०भा० अध्यासभाष्य

2- अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य····। ब्र०सू०शा०भा० 1/1/2

3- अविद्याकामकर्मविशिष्टकार्यकरणोपाधिरात्मा संसारी जीव उच्यते । शा०भा०बृ०उ० सम्बन्ध

4- जीवस्तु शरीर एव भवति तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र - वृत्त्यभावात् । ब्र०सू०शा०भा० ।2/3 ;

परिच्छिन्न सा भासता है, ठीक उसी प्रकार देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धिरूपी उपाधियों से परिच्छिन्न हुए परमात्मा को ही जीव कहते हैं ।[1] उसका यह संसारित्व परमार्थ नहीं है[2]।

जीव का ब्रह्म से जो विभाग प्रतीत होता है वह स्वत: नहीं है वरन् जैसे आकाश का विभाग घटादि सम्बन्ध निमित्तक भासता है वैसे बुद्धि आदि उपाधि के निमित्त से जीव में प्रविभाग भासता है । यही कारण है कि उपाधियों की उत्पत्ति से इसकी उत्पत्ति और उसके प्रलय से प्रलय होता है[3]। छान्दोग्य उपनिषद् के भाष्य में आचार्य शङ्कर ने कहा है कि जीव से रहित यह शरीर ही मरता है जीव नहीं मरता[4]।

इस अचेतन शरीर के चेतन स्वामी जीव का चैतन्यता ही स्वरूप है वही जीवन-पर्यन्त भासित होती रहती है तथा किसी भी कार्य को करने की प्रेरणा देती है और मृत्यु के पश्चात् जीव के शरीर से निकल जाने पर चैतन्यता

1- पर एवात्मा देहेन्द्रिय मनोबुद्ध्युपाधिभि: परिच्छिद्यमान: । बालै:शारीर इत्युपचर्यते ।यथा घटकरकाद्युपाधिवशाद- परिच्छिन्नमपि नभ: परिच्छिन्नवदावभासते,तद्वत् ।ब्र0सू0शा0भा 1/2/6 ·

2- उपाधिवशात्संसारित्वं न परमार्थत: ।स्वतो संसार्येव जीवानामुपाधि- गताशुद्धि बाहुल्यात्संसारित्वमेव अभिलष्यते । शा0भा0बृह0उ0 ·· · ·

3- नास्य प्रविभाग:स्वतो स्ति:बुद्ध्यादि उपाधि निमित्तं त्वस्य प्रविभाग- प्रतिभानिमाकाशस्येव घटादि सम्बन्ध निमित्तम् ।उपाध्युत्पत्त्याऽस्योत्प- त्तिस्तत्प्रलयेन च प्रलय । शा0भा0ब्र0सू 2/3/17 ; न जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ स्त: ।

4- जीवापेतं जीवावियुक्तं वाव किलेदं शरीरं म्रियते न जीवोम्रियते इति कार्यशेषे च सुप्तोत्थितस्य ममेदं कार्यशेषमपरिसमाप्तमितिस्मृत्वा समापन- दर्शनात् । शा0भा0छा0उ0 6/11/3 ;

भी साथ ही चली जाती है क्योंकि वह उसका स्वाभाविक धर्म ही है[1]। बुद्धि आदि का सम्पर्क होने के कारण द्रष्टा, श्रोता आदि संज्ञाओं से युक्त यह जीवात्मा अन्तर्यामित्व से रहित होता है। और घटाकाश के समान जीव में शरीरादि उपाधियों से परिच्छिन्न होने के कारण सब प्रकार से पृथिवी आदि का नियमन करने में भी असमर्थ है[2]। उपनिषदों और स्मृतियों में 'विज्ञान' शब्द जीव या शरीर के लिये ही प्रयुक्त हुआ है क्योंकि शरीर विज्ञानमय ही है[3]। जो यह प्राणों में विज्ञानमय संसारी लक्षित होता है यह महान् अजन्मा आत्मा है (वही) परमेश्वर है[4]। शारीर ही जीव है क्योंकि वह शरीर का स्वामी है[5]। उपाधि से परिच्छिन्न जीव में सर्वज्ञत्व आदि का अभाव है क्योंकि अविद्या के कारण उसका ज्ञान आवृत हुआ रहता है[6]। जीव को अल्पमहिमा वाला भी कहा गया है[7]।

1- चैतन्यमेव ह्यस्य स्वरूपम् । शा॰भा॰ब्र॰सू॰ 2/3/29 ।
2- नहि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मनः संसारित्वमस्ति ।.... बुद्ध्युपाधि-धर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्व भोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वमकर्तुरभोक्तुश्चासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सत् आत्मनः । वही 2/3/29 ;
3- विज्ञानमयो हि शारीरः ।
4- (क) योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु संसारी लक्ष्यते स वा एष महानज आत्मा परमेश्वर । ब्र॰सू॰शा॰भा॰ 1/3/42

(ख) स ते कार्यकरणसङ्घातस्य आत्मा विज्ञानमयः । न हि चेतनवदनधिष्ठितस्य दारुयन्त्रस्येव प्राणनादि चेष्टा विद्यन्ते, तस्माद् विज्ञानमयेनाधिष्ठितं विलक्षणेन दारुयन्त्रवत् प्राणनादिचेष्टां प्रतिपद्यते ।
शा॰भा॰बृ॰उ॰ 3/4/1 ;
5- तत्रापि शारीरो जीवः स्यात् शरीरस्वामित्वात् ।
ब्र॰सू॰शा॰भा॰ 1/3/42 ;
6- नहि शारीरस्य उपाधिपरिच्छिन्न दृष्टेः सर्वज्ञत्वं सर्वविन्त्वं वा सम्भवति ।
वहि 1/2/21 ।
7- न शारीरस्य तन्महिम्नः ।

जीव और ब्रह्म के पारमार्थिक अभेद तथा औपाधिक भेद को प्रदर्शित करने के लिये शङ्‌कराचार्य ने अपने भाष्य-ग्रन्थों में " अवच्छेद " "प्रतिबिम्ब " तथा "आभास " इन तीन पदों का यथावसर प्रयोग किया है । उन्होंने जीव और ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध को कहीं घटाकाश और मठाकाश के दृष्टान्त से, कहीं बिम्बप्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से , कहीं रज्जु- सर्प के दृष्टान्त से प्रदर्शित किया है । आचार्य ने अवच्छेदवाद के माध्यम से जीवात्मा के अङ्‌गत्व की और संकेत किया है, प्रतिबिम्बवाद के माध्यम से दिखाया है तथा आभासवाद के द्वारा जीव और संसार का मिथ्यात्व प्रदर्शित किया है ।

शङ्‌कर के पूर्ववर्ती आचार्य "गौडपाद " ने भी इसी प्रकार इन्हीं तीनों पदों का प्रयोग अपनी कारिकाओं में किया था । परन्तु शङ्‌कर के परवर्ती आचार्यों (भामतीकार, वार्तिककार तथा विवरणकार) ने अपने-अपने ग्रन्थों में इन तीनों मतों में से एक -एक मत को मानकर क्रमश: अवच्छेदवाद, आभासवाद तथा प्रतिबिम्बवाद को पोषित किया ।

ईश्वर तथा ब्रह्म से जीव का सम्बन्ध: अन्तर और अभेद :--

ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है जबकि जीव औपाधिक है । ब्रह्म, ईश्वर, जीव और साक्षी शब्दों में पारमार्थिक दृष्टि से एक तत्त्व की ही स्थिति होते हुए भी सूक्ष्म अन्तर उपलब्ध होता है । उपाधिशून्य चैतन्य का नाम है ' ब्रह्म ।' माया विशिष्ट ब्रह्म की संज्ञा ' ईश्वर ' है। यद्यपि अनेक स्थलों पर निर्गुण ब्रह्म को ही शङ्कर ईश्वर कहते हैं जगत् का कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभिमानी ' जीव ' है[1] तथा ' साक्षी ' इन तीनों से भिन्न है । शाश्वत चैतन्य को साक्षी कहा जाता है । वह न कर्ता है न भोक्ता और न भ्रष्टा । यह साक्षी जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को देखता भर रहता है । आचार्य शङ्कर ने मुण्डकोपनिषद् में अपने भाष्य के एक स्थल पर साक्षी के लिये ' ईश्वर ' शब्द का प्रयोग किया है । मु०उपनिषद् के इस प्रसिद्ध वाक्य पर (तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति 3/1/1) टीका करते हैं आचार्य शङ्कर कहते हैं कि इन दोनों में से एक जो क्षेत्रज्ञ है और सूक्ष्मशरीर धारण करता है, अज्ञान के कारण कर्मों के फलों को जो सुख तथा दु:ख रूप में प्रकट होते हैं खाता है अर्थात् उनका उपभोग करता है , जो नाना प्रकार की स्थितियों में स्वादु हैं ।

1-(क) तयो: परिष्वक्तयोरन्य एक: क्षेत्रज्ञो लिङ्गोपाधिवृक्षमाश्रित: पिप्पलं कर्मनिष्पन्नं सुखदु:ख लक्षणं फलं स्वाद्वत्त्यनेक विचित्रवेदनास्वादरूपं स्वादवत्ति भक्षयत्युपभुङ्क्ते विवेकत: । शा०भा०मु०उ० 3/1/1 ;

(ख) ऋतं सत्यमवश्यम्भावित्वात्, कर्मफलंपिबन्तौ, एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतर: तौ च छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वा ऽसंसारित्वेन इति । शा०भा० कठ०उप० 1/3/1 ;

जीवात्मा ईश्वर या ब्रह्म के अंश के समान प्रतीत होने पर भी अंश नहीं हो सकता क्योंकि निरवयव परब्रह्म देश व काल की परिधि से परे होने के कारण अंश रहित अर्थात् अखण्ड है । अग्नि और विस्फुलिङ्ग की भाँति ही ईश्वर और जीव का अंशांशिभाव हो सकता है[1]।

जीव परब्रह्म का परिवर्तित रूप नहीं कहा जा सकता क्योंकि निरपेक्ष परब्रह्म निर्विकार है । जीवात्मा ईश्वर की रचना भी नहीं कहा जा सकती क्योंकि वेद या उपनिषद् ग्रन्थों में कहीं भी आत्मा की रचना का कोई वर्णन नहीं मिलता है । अतः यह सिद्ध हुआ कि जीव न तो परब्रह्म से भिन्न है, न उसका अंश है और न ही उसका परिवर्तित रूप है । इसलिये निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक जीव का मूलस्वरूप आत्मा है और यह आत्मा प्रत्येक जीव में ब्रह्मरूप ही है । आत्मा की अजरता,अमरता, एवं कूटस्थता शाङ्कर-वेदान्त में स्थान-स्थान पर व्याख्यात है । यह जीव स्वयं आत्मा ही है । हम इसके स्वरूप को पहचानते नहीं हैं क्योंकि यह उपाधियों से आवृत है ।

यहाँ यह शङ्का होनी स्वाभाविक है कि जो आत्मा नित्यस्वतंत्र विशुद्ध चैतन्य तथा कूटस्थ नित्य है और उसे किसी की चाह नहीं है,वह करती भी कुछ नहीं है तो भी शरीरधारी आत्मा या जीव के रूप में गति,सक्रियता, इच्छा आदि का कारण कैसे बनती है ? इस शङ्का का समाधान आचार्य -

---

1- जीव ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति यथा ग्नेविस्फुलिङ्गः ।अंशइवांशः न हि निरवयवस्य मुख्योंऽशः सम्भवति । ब्र0सू0शा0भा0 2/3/43 ; परस्य परमार्थतो महाकाशस्थानीयस्य घटाकाशस्थानीयो जीवः सदा सर्वदा यथोक्तदृष्टान्तवन्न विकारो नाप्यवयवः । शा॰भा॰मा॰3॰3/7 ;

शङ्कर इस प्रकार अपने भाष्य में देते हैं कि जिस प्रकार लौह-चुम्बक स्वयं प्रवृत्ति रहित होने पर भी लोह का प्रवर्तक होता है, अथवा जैसे रूपादि विषय स्वयं प्रवृत्ति रहित होने पर भी नेत्र के प्रवर्तक होते हैं ठीक इसी प्रकार से प्रवृति रहित होता हुआ भी ईश्वर सर्वगत सर्वात्मा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् होकर सब {जीवों को} प्रवृत्त करता है[1]।

जीव और अन्तर्यामी {ईश्वर} का भेदव्यपदेश अविद्या से उपस्थापित शरीर, इन्द्रिय रूप उपाधि की अपेक्षा से ही है। परमार्थतः नहीं, क्योंकि वस्तुतः प्रत्यगात्मा एक ही है, दो प्रत्यगात्माओं का होना सम्भव नहीं है। एक में ही भेद-व्यवहार उपाधिकृत है जैसे घटाकाश और महाकाश में उपाधिकृत भेदव्यवहार होता है[2]। इसलिये यही निश्चय होता है कि परमात्मा से भिन्न कोई संसारी जीवात्मा नहीं है। वरन् यही परमात्मा ही देहादिसंघातरूप उपाधि के साथ सम्पर्क होने पर जीवरूप से संसार में {प्रसिद्ध} कहा जाता है। आत्मा और उपाधियों का सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार महा आकाश का सम्बन्ध गिरि, गुफा घट और कमण्डलु आदि उपाधियों के साथ होता

1- यथाऽयस्कान्तो मणिः स्वयं प्रवृत्तिरहितोऽप्ययसः प्रवर्तको भवति, यथा वा रूपादयो विषयाः स्वयं प्रवृत्ति रहिता अपिचक्षुरादीनां प्रवर्तका भवन्ति। एवं प्रवृत्ति रहितोऽपीश्वरः सर्वगतः सर्वात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सन् सर्वं प्रवर्तयेत्। {ब्र०सू०शा०भा० 2/2/2}

2- अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकारणोपाधिनिमित्तोऽयं शरीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिकः। एकोहि प्रत्यगात्मा न द्वौ प्रत्यगात्मानौ संभवतः। एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृतः यथा घटाकाशो महाकाश इति।

वही 1/2/20 ;

है[1]। उपाधियों के साथ सम्बन्ध के अविवेक से उत्पन्न हुई मिथ्याबुद्धि से ही ईश्वर और जीव का भेद लक्षित होता है । अतः जीव और ब्रह्म में विशेष है ﴾एक﴿ जीव कर्ता भोक्ता धर्म और अधर्म साधन वाला तथा सुखदुःखादि वाला है ﴾ दूसरा ﴿ ब्रह्म﴾जीव से विपरीत पापरहितत्वादि गुणों से युक्त है ।यही कारण है कि जीव को सुखदुःखादि भोग प्राप्त होता है ईश्वर को नहीं ।जीव और ब्रह्म में एकत्व होने पर भी जीव के उपभोग से ब्रह्म में,उपभोग की प्रसक्ति, दोनों में ﴾विशेषता﴿वैशेष्य होने के कारण नहीं हो सकती[2]।

आचार्य शङ्कर ने एक स्थलपर जीव को आकाश में आरूढ नट के समान तथा ईश्वर ﴾ब्रह्म ﴿ को भूमिस्थ मायावी कहा है । आचार्य के अनुसार परमेश्वर अविद्या से कल्पित कर्ता,भोक्ता,विज्ञानात्मा से ठीक उसी प्रकार भिन्न है जैसे ढाल और खड्ग धारण किये हुए सूत्र द्वारा आकाश में आरूढ मायावी नट से,भूमि में स्थित असली मायावी भिन्न होता है,अथवा जैसे घटरूप उपाधि से परिच्छिन्न आकाश से उपाधि रहित आकाश या महाकाश भिन्न होता है, वैसे ही विज्ञानात्मा और परमात्मा के मध्य भी कल्पित भेद है[3]।जीव या आत्म

1- नेश्वरादन्यः संसारी,तथापि देहादिसंघातोपाधिसंबन्ध इष्यत एव, घटकरकगिरि गुहाद्युपाधि सम्बन्ध इव व्योम्नः । ब्र०सू०शा०भा०।/।/5 ;

2- विशेषोहि भवति शारीरपरमेश्वरयोः ।एकःकर्ता भोक्ता धर्माधर्मादि-साधनः सुखदुःखादिमांश्च ।एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः ।एत-स्मादन्यो विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य । वही ।/2/8 ;

3- परमेश्वरस्त्वविद्याकल्पिताच्छारीरात्कर्तुर्भोक्तुर्विज्ञानात्माख्यादन्यः । यथा मायाविनश्चर्मखड्गधरात्सूत्रेणाकाशमधिरोहतः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः।यथा वा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधिर-परिच्छिन्न आकाशोऽन्यः । वही ।/।/17 ;

ही ब्रह्म है और यही सब के द्वारा अनुभूत है[1]।

शङ्कराचार्य का कथन है कि अविद्याप्रयुक्तस्वरूप अज्ञान के कारण जीव नानाविध क्लेशपाशों से बद्ध होकर त्रिविध तापों का भाजन सा बना रहता है । जीव का पारमार्थिक यायथार्थ स्वरूप परब्रह्म है और वह पापरहितत्व आदि धर्म वाला है, इससे भिन्न उपाधि-कल्पित स्वरूप पारमार्थिक नहीं है । जब तक स्थाणु में पुरुष बुद्धि के समान द्वैत लक्षण रूपा अविद्या की निवृत्ति नहीं हो जाती तथा कूटस्थ, नित्य और ज्ञान-स्वरूप आत्मा ' मैं ब्रह्म हूँ ' इस प्रकार नहीं जान लेता तब तक जीव में जीवत्व विद्यमान रहता है ।परन्तु जब देह, इन्द्रिय,मन और बुद्धि के संघात से पृथक् तू देह,इन्द्रिय,मन और बुद्धि रूप संघात नहीं है, तू संसारी भी नहीं है किन्तु जो सत्य है वही चैतन्यस्वरूप आत्मा है । इस प्रकार कूटस्थ नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा का ज्ञान अविद्या ग्रस्त जीव को हो जाता है जिसके फलस्वरूप जीव का शरीर के प्रति अभिमान छूट जाता है अर्थात् वह सशरीरी होते हुए भी अशरीरी हो जाता है[2]।उसके पश्चात् शरीरत्यागोपरान्त पूर्णरूपेण मुक्त हो जाता है । अतः परमार्थ रूप से विज्ञानात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है[3]।

1- तदेतद्ब्रह्म य आत्मा ।यःप्रत्यगात्मा,द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा विज्ञाता सर्वानुभूः । शां०भा०बृ०उ० .... पृ० 614-15

2- यावदेव हि स्थाणाविव पुरुषबुद्धिं द्वैतलक्षणामविद्यां निवर्तयन्कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते,तावज्जीवस्यजीवत्वम् । यदा तु देहेन्द्रिय मनोबुद्धि संघाताद्व्युत्थाप्य श्रुत्या प्रतिबोध्यते....तदा.. स एव कूटस्थनित्य दृक्स्वरूप आत्मा भवति । ब्र०सू०शा०भा० 1/3/19 ;

3- परमार्थतः परमात्मविज्ञानात्मनोर्भेदा भावात् । वही 1/4/1 ;

मायामयी महासुषुप्ति परमेश्वर के आश्रित ही रहा करती है तथा इसी में स्वरूप ज्ञान को भूल जाने वाले संसारी जीव शयन करते हैं अर्थात् सुषुप्ति की अवस्था में जीव को कोई भी ज्ञान नहीं होता । इस समय जीवकेवल कारण शरीर से युक्त रहता है[1]। सुषुप्ति की अवस्था में जीव की ही संज्ञा 'प्राज्ञ' हो जाती है । जीव और प्राज्ञ की एकता भी स्वीकार की गयी है ।स्वप्न और जाग्रत अवस्था के पदार्थों को देखने वाले महत्त्व एवं विभुत्व विशिष्ट ब्रह्म के चिन्तन से ही शोक की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है,अत: प्राज्ञ या परमात्मा से जीव भिन्न नहीं है[2]। प्राज्ञ के स्वरूप की जानकारी हो जाने के फलस्वरूप ही समस्त शोकों से जीव के शोक का आत्यन्तिक- नाश होता है[3]क्यों कि जब तक अविद्या की निवृत्ति नहीं होती तब तक जीव में धर्मादि आश्रयत्व और जीवत्वादि निवृत्त नहीं होते हैं उसकी निवृत्ति के पश्चात् तो वह {जीव} प्राज्ञ ही हो जाता है[4]। यहाँ यह शङ्का नहीं की जानी चाहिए कि उपाधि-सम्पर्क से लेकर उपाधि निवृत होने तक आत्मा में भी कोई विकार उत्पन्न हो जाता

1- परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्ति:यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिता: शेरते संसारिणो जीवा: । ब्र0सू0शा0भा0 1/4/3 ;

2- स्वप्नजागरितदृशो जीवस्यैव महत्त्वविभुत्व विशेषणस्यमननेन शोकविच्छेदं· · · न प्राज्ञादन्यो जीव इति । वही 1/4/6 ;

3- प्राज्ञविज्ञानाद्धि शोकविच्छेद: । वही 1/4/6 ;

4- यावद्ध्यविद्या न निवर्तते तावद्धर्मादिगोचरत्व जीवस्य जीवत्वं च न निर्वतते । तन्निवृत्तौ तु प्राज्ञ एव ···· ।वही 1/4/6 ;

होगा क्योंकि अविद्या के योग से अथवा अविद्या के निवृत्त होने से वस्तु स्वरूप आत्मा में कोई भी विशेषता नहीं हो जाती है जिस प्रकार अन्धकार के कारण कोई पुरूष रज्जु को सर्प समझ ले और भय से पलायन करे और तत्पश्चात् विज्ञ पुरूष के द्वारा ज्ञान कराने पर कि 'यह सर्प नहीं है बल्कि रज्जु है।' इस प्रकार रज्जु- ज्ञान होने पर सर्पज्ञान नष्ट हो जाता है परन्तु सर्पबुद्धि काल में अथवा उसके निवृत्त हो जाने पर वस्तु-रूपा रज्जु में कोई विकार या सर्प के गुणादि का प्रवेश किसी भी काल में नहीं हुआ रज्जु हर समय रज्जु रूप में ही रही। ठीक इसी प्रकार से ब्रह्म उपाधि के सम्पर्क में आने के पश्चात् स्वरूप को विस्मृत करके उपाधिगत सुख-दुःखों से ही सुखी एवं दुःखी होता रहता है, ब्रह्मज्ञान के पश्चात् उपाधि से सम्पर्क टूट जाता है और वह ब्रह्म ही हो जाता है परन्तु इस बीच ब्रह्म के जीवगत कोई भी विकारसंस्पर्श नहीं करते हैं।[1] यह जीवात्मा वस्तुत: देह नहीं है, किन्तु देव है, जड़ नहीं है किन्तु चेतन है, दृश्य नहीं है, किन्तु दृष्टा है, परिच्छिन्न नहीं है, किन्तु अपरिच्छिन्न (विभु) है। अतएव इसकी भी ब्रह्म के ही सदृश त्रिकालाबाधित और पारमार्थिकी सत्ता है[2]। यह स्वयं प्रकाशवान् स्वत:सिद्ध और ज्ञानस्वरूप है। यह आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसकी आनन्दरूपता सुषुप्ति में एवं समाधि में अनुभूत होती है।

1- न चाविद्यावत्त्वे तदपगमे च वस्तुन: कश्चिद्विशेषोऽस्ति। यथा कश्चित्सतमसे पतितो कांचिद्रज्जुमहिं मन्यमानो भीतोवेपमान: पलायते, तं चापरो ब्रूयान्मा भैषीर्नायमही रज्जरेवेति। न त्वहिबुद्धिकालेतदपगमकाले च वस्तुन: कश्चिद्विशेष: स्यात् तथैतदपि द्रष्टव्यम्। ब्र०सू०शा०भा० 1/4/6 ;

2- ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:।। शङ्कर सिद्धान्त ;

दुःख आदि तो मन के धर्म है, मन के साथ तादात्म्याध्यास होने से वे धर्म विशुद्ध आत्मा में आरोपित हो जाते हैं। जैसे जपाकुसुम की रक्तिमा स्फटिक में आरोपित होती है और रक्तिमा के आरोप से उसकी स्वाभाविकी शुक्लता तिरोहित हो जाती है वैसे ही मन के दुःखादि धर्मों के आरोप से उसके अन्त-रात्मा की स्वाभाविक आनन्दरूपता अभिभूत हो जाती है। इसलिये मैं चिदात्मा वस्तुतः सद्रूप, चिद्रूप, आनन्द्रूप और परिपूर्णअविनाशी-भूमाब्रह्म ही हूँ,ऐसी दृढ़ भावना मुमुक्षु में सदैव होनी चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शङ्कर ने जीव की ब्रह्म से भिन्नता केवल औपाधिक आधार पर ही की है। उसी ईश्वर या आत्मा का ज्ञान हो जाने पर जीव सभी सांसारिक बन्धनों एवं औपाधिक भेदों से छूट जाता है।[1] शुद्ध ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अविद्या या अन्तःकरण में पड़ता है। इस प्रतिबिम्ब को चिदाभास' कहते हैं और यही चिदाभास जब चेतन अन्तःकरण या बुद्धि के कार्यों व्यापारों को स्वगत समझने लगता है तो 'जीव' कहलाता है और जिस समय प्रतिबिम्ब पड़ता है उस समय बिम्बभूत ब्रह्म की ही संज्ञा 'ईश्वर' हो जाती है। अर्थात् ब्रह्म और जीव के मध्य की स्थिति 'ईश्वर' शब्द से सम्बोधित की जा सकती है। वैसे तो आचार्य ने 'ईश्वर' कई स्थलों पर 'ईश्वर'

1- व्यष्टि भूत देहेन्द्रियात्मकोऽनीशो जीव एवं समष्टिव्यष्टि आत्मकत्वेन जीव परयोरौपाधिकस्य भेदस्य विद्यमानत्वात्तदुपाध्युपासन द्वारेण निरुपाधिकमीश्वरं ज्ञात्वा मुच्यते। शा०भा० श्वे०उ० 1/8 ;

शब्द का प्रयोग किया है वहाँ पर उनका अभिप्राय केवल शुद्धब्रह्म से ही है ।

साक्षी का जीव से सम्बन्ध :- ' साक्षी ' क्या है ? तथा साक्षीरूप आत्मा और जीव में परस्पर क्या सम्बन्ध है आचार्य शंकर के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा के अन्दर बोधग्राहक, भावुकतापूर्ण तथा इच्छाशक्ति सम्बन्धी अनुभूति के अतिरिक्त भी एक साक्षीरूप आत्मा विद्यमान है । शाश्वत चैतन्य को ' साक्षी ' कहते हैं जबकि अन्त:करण इसके नियामक के रूप में सहायक का कार्य करता है और इसी सहायक (अन्त:करण) के द्वारा ' साक्षी ' बाहरी प्रमेय विषयों को प्रकाशित करता है । ' साक्षी ' रूप आत्मा निर्विकार चैतन्य है और यह स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थों की प्रतीति का अधिष्ठान है । यह उनके कार्यों का निरीक्षण करता है किन्तु किसी भी प्रकार से उनसे प्रभावित नहीं होता है । जब फलोपभोग करने वाले अहं का कार्य समाप्त हो जाता है तब (स्थूल तथा सूक्ष्म)दोनों देहों का प्रकाशन इसी ' साक्षी ' रूप आत्मा के कारण होता है । साक्षीरूप आत्मा की निरन्तर उपस्थिति, अहंरूप आत्मा से भिन्न किसी अन्य के सम्बन्ध में जो मानसिक विचार हैं उनकी श्रृंखला में, दृष्टा के व्यक्तित्व को स्थिर रखने में सहायक होती है ।

जीव का अचेतन जगत् से सम्बन्ध

शङ्कराचार्य के मत में एकमात्र निर्गुण, निर्विशेष एवं निरुपाधिक ब्रह्म ही पारमार्थिक दृष्टि से सत्य एवं त्रिकालाबाधित सत्य है । जगत् मिथ्या है तथा जीव ब्रह्मरूप ही है[1]। किन्तु इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर जगत् का स्वरूप क्या है ? उसका मिथ्यात्व क्या है ? तथा जीव के साथ उसका क्या सम्बन्ध है ?

जगत् का स्वरूप :-- 'परिवर्तन' या एक भाव से दूसरे भाव में जाना अर्थात् पूर्वभाव का त्याग करके परभाव में संक्रमण होना ही संसार का स्वरूप है । नियमपूर्वक परिवर्तनशील होना या परिणमन भाव ही 'जगत्' है । जो निरन्तर उत्पत्त्यादि भाव विकार को प्राप्त होता है, उसे 'जगत्' कहते हैं ।

नित्य, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अवाङ्मनसगोचर तथा बन्ध मोक्ष से रहित 'ब्रह्म' ही पारमार्थिक सत्ता है । वही सत्ता देखने सुनने समझने तथा कहने - इत्यादि व्यवहारों की दृष्टि से 'ईश्वर' 'देशकाल' कारण-कार्य' से 'जीव' आकाशादि प्रपञ्च, लोक, परलोक तथा अन्य समस्त पदार्थों के रूप में अनुभूत होती है । शङ्कर के मत में व्यावहारिक सत्ता 'दृष्टनष्टस्वरूप' तथा किञ्चित्काल पर्यवसायी होती है । कल्प के आरम्भ से उसके अन्ततक का जो 'काल' है उसे 'व्यवहारकाल' कहते हैं ।

इस प्रकार अनुभूयमान व्यावहारिक सत्ता का आत्म ब्रह्मैक्यज्ञान के अनन्तर बाध हो जाता है ।--

---

1- ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर: । अध्यास भाष्य

इसी प्रकार लौकिक भ्रान्ति में अनुभूयमान पदार्थ जैसे-शुक्ति में भासित होने वाला 'रजत' या रज्जु में भासित होने वाला 'सर्प' प्राति - भासिक सत्तावाले पदार्थ कहे जाते हैं। ये पदार्थ उस (प्रातिभास) काल में ही सत्तावान् होते हैं, अधिष्ठान के ज्ञान से इनका बाध हो जाता है। इसलिये प्रातिभासिक सत्ता केवल स्वप्नवत् भ्रम है। इस भ्रमात्मक सत्ता में, सार्वभौमिकता नहीं रहती है। यह किसी - किसी अवसर पर ही किसी कारण विशेष से ही अनुभूत होती है इसमें क्रियात्मक क्षमता नहीं होती।

शङ्कराचार्य के ग्रन्थों के सम्यगनुशीलन से यह स्पष्ट रूप से भासित होता है कि जगत् शशशृङ्ग अथवा गगनारविन्द की भाँति सर्वथा असत्य नहीं है और न यह शुक्ति-रजतादि की भाँति प्रातिभासिक ही है, वरन् प्रातिभासिक पदार्थों से भी उत्कृष्ट कोटि की सत्ता जगत् की होती है। प्रातिभासिक पदार्थों की सत्ता का व्यवहारकाल में बाध हो जाता है जबकि जगत् की सत्ता का बाध 'ब्रह्मज्ञान' से होता है व्यवहारकाल में नहीं।[1] व्यवहारावस्था में अबाधित रूप से अवस्थित रहने के कारण ही इस दृश्यमान् चराचर जगत् की 'व्यावहारिक सत्ता' कही गयी है। शङ्कराचार्य व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ता के भेद पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डालते हुए व्यावहारिक सत्ता

1- बाधिते च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति, यत्प्रसिद्धये नानात्वांशो परो ब्रह्मणः कल्प्येत्॥

ब्र०सू०शा०भा० 2/1/14;

को अपेक्षाकृत अधिक स्थायी मानते हैं ।[1] वे कहते हैं कि जाग्रत्-ज्ञान और स्वप्न ज्ञान में वैधर्म्य है क्योंकि स्वप्नावस्था में उपलब्ध वस्तुओं की सत्ता तभी तक रहती है जब तक कि जाग्रत् अवस्था की प्राप्ति नहीं हो जाती । जागरितावस्था में स्वप्नावस्था में देखे गये पदार्थों का बाध हो जाता है परन्तु जागरितावस्था में उपलब्ध कोई भी पदार्थ व्यवहारकाल के किसी भी अवस्था में इस प्रकार बाधित नहीं होता है क्योंकि स्वप्नज्ञान स्मृति है और जागरित दर्शन उपलब्धि (अनुभव) है[2]। इस प्रकार जाग्रत् कालीन पदार्थ स्वप्नकालीन पदार्थों से अधिक स्थायी एवं उत्कृष्ट कोटि के हैं अतएव व्यावहारिक जगत् को स्वप्नजगत् के समान प्रातिभासिक नहीं माना जा सकता है ।

जगत् का मिथ्यात्व : --

वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार मिथ्या का लक्षण इस प्रकार है " सदसद्विलक्षणत्वं मिथ्यात्वम् अर्थात् जो वस्तु सत् और असत् से विलक्षण या अनिर्वचनीय हो उसे ' मिथ्या ' कहते हैं । मिथ्या वह है जो कभी रहे और कभी न रहे ।यहाँ न रहने का अभिप्राय उसकी प्रतीति से है ।कल्पित पदार्थ मध्य में भासित होने पर भी आदि एवं अन्त की तरह मध्य में भी अविद्यमान ही रहता है[3]। ' नेह नानास्ति किञ्चन ' श्रुति प्रत्यगभिन्न ब्रह्म में

1- वैधर्म्य हि भवति स्वप्नजागरितयोः।•• •बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजन समागम इति नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते ।
ब्र०सू०शा०भा० 2/2/29।

2- अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम् उपलब्धिस्तु जागरित दर्शनम् ।
वही 2/2/29 •

3- "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा" मा०उ०का० 2/6
तथा इमे जाग्रद्दृश्या भेदाः आदि अन्तयोरभावाद्वितथैरेव मृगतृष्णिकादिभिः सदृशत्वाद्वितथा एव तथाप्यवितथा इव लक्षिता मूढैरनात्मविद्भिः।
शा०भा०मा०का० 2/6 •

प्रतीयमान द्वैत प्रपञ्च का मिथ्यात्व ही बोधित करती है ।यदि यह दृश्यमान जगत्मिथ्या न होता तो यह श्रुति द्वैत का निषेध न करती । अविद्या का सिद्धान्त अपनेविषयिनिष्ठ भाव के साथ व्यावहारिक जगत् के स्वरूप को एक भ्रान्तिपूर्व विचार का सुझाव देता है अर्थात् कि यह एक भ्रान्ति है जिसकी उत्पत्ति मन के अन्दर हुई है । शङ्कर बार-बार प्रतीतिरूप जगत् के अनेकत्व का कारण अविद्या को ही बताते हैं ।[1]किन्तु ब्रह्म के स्वरूप के ऊपर अविद्या का कुछ प्रभाव नहीं होता,क्योंकि यह तो केवल हमारे अपूर्णज्ञान के फलस्वरूप ऐसी प्रतीत होती है । केवल इसलिये कि जैसे चक्षु-इन्द्रिय के दोष वाले को दो चन्द्रमा दिखायी पड़ते हैं,जबकि वस्तुत: दो नहीं होते हैं । सम्पूर्ण लौकिक यथार्थसत्ता अपने नामों व रूपों सहित जिसके लिये हम न तो सत् और न ही असत् की परिभाषा का प्रयोग कर सकते हैं जो अविद्या के ऊपर आश्रित है[2]।

जगत् सत्य तो हो नहीं सकता,क्योंकि ब्रह्मज्ञान होने पर उसका बाध हो जाता है और फिर "एकमेवा द्वितीयं "छा0उ06/2/9} इत्यादि श्रुतियाँ बाधित हो जायेंगी ।जगत् या द्वैत-प्रपञ्च असत् भी नहीं हो सकता क्योंकि व्यवहारकाल में निरन्तर इसकी प्रतीति सर्वानुभव सिद्ध है ।अतएव उत्पत्ति एवं विनाशशील दृश्यमान जगत् को सदसत् से विलक्षण ' अनिर्वचनीय ' या ' मिथ्या '

1- मिथ्याज्ञान विजृम्भितं च नानात्वम् । शा0भा0ब्र0सू0 2/1/14 ;

2- अविद्याकल्पितेन च नामरूपलक्षणेन रूप भेदेन व्याकृताव्याकृतात्मकेन तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयेन ब्रह्म परिणामादि सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते ।....वाचारम्भणमात्रत्वाच्चाविद्या कल्पितस्य नाम रूप-भेदस्येति व . . . .। वही 2/1/27 ;

कहना ही सर्वथा उपयुक्त होगा । यथार्थता की कसौटी के आधार पर निर्णय करने से आनुभविक जगत् का मिथ्यात्व प्रकट हो जाता है । पदार्थ रूप विषय जिनका प्रत्यक्ष किया जाता है अयथार्थ हैं किन्तु आत्मा,जो इनका प्रत्यक्ष करती है और स्वयं कभी प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनती,यथार्थ है । इस बात को शङ्कर बल पूर्वक कहते हैं कि यद्यपि जाग्रत् और स्वप्नकाल के विषयों में भेद है परन्तु फिर भी ये दोनों ही अयथार्थ हैं क्यों कि चैतन्य के विषय हैं ।[1] इन दोनों का ही व्यभिचार प्रसिद्ध है । दर्शन रूपा स्वप्नवृत्ति में ऊँची नीची देवत्वादि और तिर्यक्त्वादि गतियों को प्राप्त होता है,किन्तु ये लोक मिथ्या हैं,क्योंकि स्वप्नेतर अवस्थाओं में इनका व्यभिचार (खण्डित) होना भी प्रसिद्ध है ।जाग्रत् अवस्था के शरीरेन्द्रियात्मत्व और देवतात्मत्व भी अविद्या से ही आरोपित हैं परमार्थतः नहीं है[2]। यह जगत् नाम,रूप और कर्म इन तीन अवयवों से युक्त है समस्त कर्मों का फल व्याकृत संसार ही है[3]। यह संसार अनादि और सान्त है । संसार को सादि मानने पर मुक्त पुरुषों का पुनर्जन्म प्रसक्त होगा और न किये गये कर्मों का फल प्राप्त होगा ।[4]

1- यथात्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपिदृश्यत्वमविशिष्टत्वमिति ।......
दृश्यत्वमसत्यं च अविशिष्टमुभयत्र । गौ०का०पर शा०भा 2/4 ·

2- जाग्रत्कार्यकरणात्मत्वं देवतात्मत्वं चाविद्याध्यारोपितं न-परमार्थतः इति ।
शा०भा०बृ०उ० 2/1/18 ·

3- त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म । वही 1/6/1 ;

4- अनादित्वात्संसारस्य ।आदिमत्त्वे हि संसारस्याकस्मादुद्भूतेर्मुक्तानामपि
पुनः संसारोद्भूतिप्रसङ्गः अकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च ।
शा०भा०ब्र०सू०2/1/36 ;

जीव - जगत् सम्बन्ध : चेतन और जड तत्वों के संयोग से ही ' जीव ' को ' जीवत्व ' की प्राप्ति होती है । जिस समय ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अविद्या के कार्य बुद्धि में पड़ता है उस समय जड या अचेतन बुद्धि चैतन्य के सम्पर्क से चञ्चल सी प्रतीत होने लगती है । इसी प्रतिबिम्ब को ' चित्प्रतिबिम्ब ' या 'चिदाभास ' कहते हैं । यही चिदाभास ' जीव ' कहलाता है तथा यही बुद्धिगत सुखदु:खों को भोगता है । इस प्रकार चित्प्रतिबिम्ब और अविद्या का सम्बन्ध ही जीव - जगत् सम्बन्ध कहा जाता है । यह सम्बन्ध अनादि और सान्त होता है । जीव के जन्म-मरण और कर्म, फलों के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का चक्र अनादि काल से चला आ रहा है क्योंकि अविद्या भी अनादि काल से ही चली आ रही है । इस चक्र की समाप्ति आत्मसाक्षात्कार से ही होती है अर्थात् आत्मज्ञान से जैसे अविद्या का नाश होता है,तत्काल ही ' जीव ' का ' जीवत्व ' भी नष्ट हो जाता है ।

चेतनता कहाँ होती है :-- इस प्रकार हम देखते हैं कि अविद्या अर्थात् अचेतन जगत् का सम्बन्ध हुए बिना जीव का जीवत्व असम्भव है । जगत् ' चेतन तथा अचेतन ' दो रूपों में दृष्टिगोचर होता है । परन्तु कुछ पदार्थ ऐसे भी होते हैं जिनमें चेतनता होते हुए भी दृष्टिगत नहीं होती । ' सर्वं खल्विदं ब्रह्म ' इस श्रुति के अनुसार जो कुछ भी प्रतीत होता है वह सब ब्रह्म है और चूंकि ब्रह्म का स्वभाव ही चेतन होता है[1], इसलिये किसी भी पदार्थ को केवल अचेतन रूप में होना ही नहीं चाहिए अर्थात् अचेतन के साथ चेतन रूप भी अवश्य होना चाहिए । वस्तुत: ऐसा ही होता है ।

1- सच्चिदानन्दं ब्रह्म बृ0 उ0

सामान्यतया तो लोक में यही माना जाता है कि चेतनता केवल जीवधारी प्राणियों में ही पायी जाती है क्योंकि उसमें ही इसकी प्रतीति होती है और प्रस्तरादि में चेतनता का अभाव होता है क्योंकि वहाँ उसकी प्रतीति नहीं होती है । परन्तु ऐसा नहीं है । वस्तुत: होता यह है कि इन प्रस्तरादि जड़ पदार्थों में बुद्धिरूप माध्यम का अभाव होता है इसलिये इनमें चेतनता होते हुए भी प्रकट नहीं होती है । उदाहरण के लिये जैसे- विद्युत् की धारा का प्राकट्य भी वहीं पर होगा जहाँ पर उसकी प्रतीति का माध्यम बल्ब लगाया जायेगा । एक प्रस्तर में जीवन नहीं है किन्तु एक पौधे में जीवन है । अनुकूल परिस्थितियों में वह पत्ती, मंजरी तथा पुष्प को उत्पन्न कर सकने की क्षमता रखता है । इसके अतिरिक्त एक पशु में पौधे से अधिक पूर्ण जीवन व्यतीत करने की सामर्थ्य है ।वह देख सुन सब सकता है अनुभव कर सकता है क्योंकि उसके पास बुद्धि नामक महान् इन्द्रिय जो है ।और तो और उसमें इतनी समझ है कि वह अनुकूल परिस्थितियों को प्राप्त करने का प्रयास भी करता है । पौधे तथा पशु में अन्तर यह कि पशु किसी भी उद्देश्य को लेकर गति कर सकता है परन्तु पौधा गतिहीन है ।

मनुष्यरूप प्राणी और अधिक उच्च जीवन व्यतीत करता है । मनुष्य में पाप-पुण्य का भी विवेक रहता है । कुछ मनुष्य अपनी महत्त्वाकांक्षाओं तक को सिद्ध कर लेते हैं । उन्हें देवता की श्रेणी में रखा जाता है ।इस प्रकार प्रकृति में प्राणियों के चार विभाग मिलते हैं-- देवता,मनुष्य ,पशु तथा पौधे । आचार्य शङ्कर का कथन है कि पौधों की योनि भोग योनि है उनके अन्दर

जीवात्मा भी है[1]। जो उन पौधों में अपने पूर्व कर्मों के कारण गये हैं ।यद्यपि उन्हें सुख दुख का पूरा ज्ञान नहीं रहता है फिर भी यह भोग उनके कर्मों का प्रायश्चित्त ही कहा जायेगा ।

अपने शरीरीरूप में जीवात्माएं प्राणों तथा सूक्ष्म शरीरों के साथ सम्पर्क बनाये रखती हैं ।जब तक कि 'मोक्ष' नहीं मिलता ये शरीर उनके साथ रहते हैं ।

इन्द्रियों की बहिर्मुखता :-- उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट ही हो गया है कि चेतनता की प्रतीति के लिये बुद्धि रूप माध्यम की नितान्त आवश्यकता है अन्यथा ब्रह्म के एकदेशाभाव की प्रसक्ति हो जायेगी । यह बुद्धि जीवों के हृदय में रहती है । बुद्धि के अधीन ही अन्य बाह्य इन्द्रियां हैं ।[2]परमात्मा के उपाधिभूत एवं विकार को प्राप्त होते हुए सम्पूर्ण अवस्थाओं में स्थित नाम और रूप को संसार कहते हैं ।[3] इसी बुद्धि को विज्ञानात्मा या जीव अभिव्यक्तस्वात्मचैतन्य प्रकाश रूप से व्याप्त कर लेता है । यही बुद्धि जागरित अवस्था में अन्य इन्द्रियों की अध्यक्ष रहती है । यह जीव भी जिस प्रकार से चन्द्रादि का प्रतिबिम्ब अपने

1- अपि च मुख्येऽनुशयिनो व्रीह्यादिजन्मनि व्रीह्यादिषु लूयमानेषु कण्डयमानेषु पच्यमानेषु भक्ष्यमाणेषु च तदभिमानिनोऽनुशयिनः प्रवसेयुः यो हि जीवो यच्छरीरमभिमन्यते स तस्मिन्पीड्यमाने प्रवसतीतिप्रसिद्धम् । ब्र०सू०शा०भा० 3/1/24 ;

2- तत्र बुद्धेरन्तःकरणस्य हृदयं स्थानम्,तत्स्थ बुद्धितन्त्राणि चेतराणि बाह्यानि करणानि । शा०भा०बृ०उ० 2/1/19 ;

3- नामरूपयोरेव हि परमात्मोपाधिभूतयोर्व्याक्रियमाणयोःसलिलफेनवत्तत्वान्यत्वेनानिर्वक्तव्ययोः सर्वावस्थयोः संसारत्वम् । वही 2/4/10 ;

आधारभूत जलादि का अनुवर्तन करने वाला होता है उसी प्रकार बुद्धिरूप अपनी उपाधि के स्वभाव का ही अनुसरण करने वाला होता है[1]। ये समस्त इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होने के कारण जीव को भी बाह्य विषयों की ओर प्रेरित करती हैं जिसके कारण वह अन्तरात्मा को नहीं देखपाता[2]।

समस्त कर्मों का फल व्याकृत संसार ही है । नाम,रूप और कर्म यही ' त्रय ' उत्पत्ति के पूर्व अव्याकृत ही था । वही बीज से वृक्ष के समान समस्त प्राणियों के कर्मवश व्याकृत हो जाता है । वह यह अव्याकृत संसार अविद्या का विषय है । अविद्या से ही मूर्त-अमूर्त और उनकी वासना रूप यह संसार क्रिया कारक और फल-स्वरूप होने के कारण आत्मभाव से आरोपित होता है[3]। अविद्या के कारण ही इससे भिन्न आत्मा नाम,रूप और कर्म से रहित, अद्वितीय तथा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूप होने पर भी क्रिया, कारक और फल-भेदादि विपरीत भाव से प्रतीत होता है । श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य में भी आचार्य शङ्कर ने इसी माया या अविद्या का वर्णन किया है कि पृथ्वी,जल,अग्नि, वायु,आकाश एवं मन अर्थात् उसका कारणभूत अहंकार तथा बुद्धि या महत्तत्व और अहंकार

1- बुद्ध्युपाधिस्वभावानुविधायी हि स:चन्द्रादि प्रतिबिम्ब इव जलाद्यनुविधायी । शा०भा०बृ०उ० 2/1/19 ;

2- परञ्चि परागञ्चन्ति गच्छन्तीतिखानि तदुपलक्षितानि श्रोत्रादीनिन्द्रयाणि खानीत्युच्यन्ते तानि पराञ्च्येव शब्दादि विषयप्रकाशनाय प्रवर्तन्ते । शा०भा०क०उ० 2/1/1 •

3- सोऽयं व्याकृताव्याकृतरूप: संसारोऽविद्या विषय: क्रियाकारकफलात्मक तया आत्मरूपत्वेनाध्यारोपित: अविद्ययैव मूर्तामूर्ततद्वासनात्मक: । संबंध भा०बृ०उ० 1/1 ;

अर्थात् अविद्या युक्त मूल प्रकृति । इस प्रकार आठ रूपों में विभक्त हुई माया ईश्वरीय शक्ति है । यहाँ अहंकार और मूलप्रकृति दोनों ही 'अहंकार' नाम से जानी जाती है । संसार में 'अहंकार' ही सबकी प्रवृत्ति का बीज देखा गया है[1]। अहङ्कार रूप यह शक्ति ईश्वर की अपरा प्रकृति है जो निकृष्ट, अशुद्ध, अनर्थकारिणी एवं संसारबन्धनरूपा है[2]। इस प्रकृति से भिन्न दूसरी पराप्रकृति भी होती है जिसे जीवरूपा या क्षेत्रज्ञरूपा प्रकृति कहते हैं । यह परा प्रकृति प्राणधारण के निमित्त बनी हुई है ।

अन्तर्प्रविष्ट हुई इस प्रकृति के द्वारा ही समस्त जगत् धारण किया जाता है । यही शुद्ध प्रकृति है । यहाँ जीव को शुद्ध प्रकृति और आत्मरूपा कहा गया है[3]। ईश्वर की यही परा और अपरा दोनों प्रकृतियाँ मिलकर समस्त प्राणियों की कारण हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् के प्राणी परमेश्वर में सूत्र में मणियों की भाँति ही अनुस्यूत हैं ।[4]

1- यथा विषसंयुक्तमन्नं विषमुच्यते एवं अहंकारवासनावद् अव्यक्तं मूलकारणम् अहंकार इति उच्यते प्रवर्तकत्वाद् अहंकारस्य । अहंकार एव ही सर्वस्य प्रवृत्ति बीजं दृष्टं लोके । शा0भा0श्रीमद्0 7/4 ;

2- मम ईश्वरी माया शक्तिः अष्टधा भिन्ना भेदम् आगता । अपरा न परा निकृष्टा अशुद्धा अनर्थकरी संसारबन्धनात्मिका इयम् । वही 7/5 ;

3- अन्यां विशुद्धां प्रकृतिं मम आत्मभूतां विद्धि मे परां प्रकृष्टां जीवभूतां हे महाबाहो यया प्रकृत्या इदं धार्यते जगत् अन्तःप्रविष्टया । वही 7/5 ;

4- मयि परमेश्वरे सर्वाणि भूतानि सर्वम् इदं जगत् प्रोतम् - अनुस्यूतम् अनुगतम् अनुविद्धं ग्रथितं इत्यर्थः दीर्घतन्तुषुपटवत् सूत्रे च मणि गणा इव । वही 7/5 ;

यह माया त्रिगुणात्मिका होने के साथ ही साथ अत्यन्त कठिनाई से पार करने योग्य है। इन्हीं तीनों गुणों के विकार रूप राग, द्वेष और मोह से समस्त जगत् के प्राणि-समूह मोहित होते हैं।[1] जीव को स्वरूप की जानकारी न होने देना भी इसी माया का कार्य है। अविद्या दो प्रकार से जीवों को प्रभावित करती है। प्रथम तो जीव के स्वरूप को आवृत्त कर लेती है जिसके फलस्वरूप वह अपने को भूलकर सुख दुःख और मोह रूप बन्धन में पड़ा हुआ और जन्म-मरण के चक्र में फंसा हुआ, कर्मों का कर्ता तथा भोक्ता के रूप में समझने लगता है। यह अविद्या की आवरण शक्ति कहलाती है।

दूसरे वह एक ऐसे नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि करती है जिसमें जीव रमा रहता है। नाना प्रकार के विषय भोगों को भोगता है। यह शक्ति विक्षेप शक्ति कहलाती है। नये जगत् की सृष्टि ही विक्षेप शक्ति का कार्य है। इस प्रकार स्पष्ट ही भासित होता है कि शुद्ध ब्रह्म बिना किसी की सहायता लिये जगत् की सृष्टि नहीं कर सकता। यह सहायता उसे माया या अविद्या के सान्निध्य से ही मिलती है। जो कि उसकी शक्ति है। अविद्या में चित्प्रतिबिम्ब पड़ने के समय बिम्बभूत ब्रह्म की संज्ञा 'ईश्वर' हो जाती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि माया या अविद्या शक्ति से युक्त ईश्वर ही जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय का कारण है समस्त चेतनाचेतन जगत् इसी में ओतप्रोत है[2]।

1- दैवी देवस्य मम ईश्वरस्य विष्णोः स्वभूता हि यस्माद् एषा यथोक्ता गुणमयी मम माया दुरत्यया दुःखेन अत्ययः अतिक्रमणं यस्याः सा दुरत्यया।
शा०भा०श्रीमद्०गीता 7/14

2- (क) अहं परं ब्रह्म वासुदेवाख्यं सर्वस्य जगतः प्रभव उत्पत्तिः मत्त एव स्थिति-नाशक्रियाफलोपभोग लक्षणं विक्रिया रूपं सर्वं जगत् प्रवर्तते। वही 10/8

(ख) अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः आशये अन्तर्हृदि स्थितः। वही 10/20

(ग) यत् च अपि सर्वभूतानां बीजं प्ररोहकारणं तद् अहम्। वही 10/39

(घ) विष्टभ्य विशेषतः स्तम्भनं दृढं कृत्वा इदं कृत्स्नं जगत् एकांशेन एकावयवेन एकपादेन सर्वभूतस्वरूपेण इति। वही 10/42;

समस्त कार्य, करण और विषयों के आकार में परिणत हुई त्रिगुणात्मिका प्रकृति इसी 'जीव' या 'क्षेत्रज्ञ' के लिये भोग और अपवर्ग का सम्पादन करने के निमित्त देह -इन्द्रियादि के आकार से संहत (मूर्तिमान्) होती है। वह संघात ही यह शरीर है।[1]अविद्या द्वारा आरोपित उपाधि के भेद से संसारित्व को प्राप्त जीव को देहादि में आत्मबुद्धि हो जाती है। परा और अपरा प्रकृतियाँ अथवा पुरुष और प्रकृति ये दोनों ही अनादि हैं।[2]क्योंकि उनका कारण भी अनादि है। इन दोनों में एक अन्तर है कि ब्रह्म अनन्त है और अविद्या सान्त। जीव का यह सशरीरत्व मिथ्याज्ञान -निमित्तक है जिसका बाध आत्मज्ञान होने पर ही होता है। यह संसारित्व अविद्याकृत है[3]। बुद्धि का संयोग आत्मभाव -पर्यन्त है जब तक यह आत्मा संसारी है, तत्त्वज्ञान से जीवका संसारित्व निवृत्त नहीं होता है तब तक बुद्धि के साथ सम्बन्ध बना रहता है। व्यावहारिक जगत् की सभी वस्तुएं अविद्या के कारण ही प्रतीत होती है अतएव अविद्या मिथ्याज्ञान है। यह अविद्या जीवों में कर्म के रूप में रहती है। इसलिए विषयेन्द्रियसंयोगजन्य प्रत्यक्ष सुख दुःखरूपफल ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्तसबमें है[4]

1- प्रकृतिःच त्रिगुणात्मिका सर्वकार्यकरणविषयाकारेण परिणता पुरुषस्य भोगापवर्गार्थकर्तव्यतया देहेन्द्रियाद्याकारेण संहन्यते सः अयं संघात इदं शरीरम्। शा०भा०श्रीमद्०गीता० 13/1 ;

2- प्रकृतिंपुरुषं च एव ईश्वरस्य प्रकृती तौ प्रकृति पुरुषौ उभौ अपिअनादी विद्धि। वही 13/1 •

3- अविद्याकृतत्वात्संसारित्वस्य.... शा०भा०ब्र०सू० 1/2/11 •

4- धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेव उपभुज्यमाने विषयेन्द्रिय संयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे। वही 1/1/4 ;

अविद्या के द्वारा रचे गये इस द्वैत-प्रपञ्च में यह जीवात्मा कर्ता होकर जाग्रत्, तथा स्वप्न आदि अवस्थाओं में विचरण करके तत्तत्कालिक सुख दुःखों की अनुभूतियों से सुखी एवं दुःखी होता है एवं सुषुप्ति काल में मात्र अज्ञान होने के कारण अकर्ता होकर उसे थोड़ी आनन्दानुभूति हो जाती है। यह आनन्दरूपता उसका ही स्वरूप है। अन्य दोनों अवस्थाओं में बाह्य विषयों के ज्ञान के कारण प्रच्छन्न रहती है। यह आनन्दानुभूति जीव को पूर्णरूपेण तभी मिलती है जबकि वह अविद्या के अन्धकार को आत्मसाक्षात्कार रूप ज्ञान से नष्ट कर देता है[1]। माया या अविद्या ब्रह्म से भिन्न नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्म के समान दूसरी कोई सत्ता नहीं है। विश्व की उत्पत्ति ब्रह्म के अन्दर किसी अन्य यथार्थसत्ता के कुछ अंश जुड़ जाने से नहीं हुई है, क्योंकि जो पहले से सम्पूर्ण है उसमें अन्य किसी प्रकार के पदार्थ का संयोग नहीं हो सकता। इसलिये यह विश्व असत् के कारण से विद्यमान है। जगत् की प्रक्रिया यथार्थसत्ता के क्रमिक ह्रास के कारण है। अतएव ब्रह्म ही अविद्या के सम्पर्क से संसारी जीव कहा जाता है[2]।

हम जैसे ही माया का सम्बन्ध ब्रह्म से जोड़ते हैं ब्रह्म ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है और माया उस (ईश्वर) की शक्ति को प्रकट करती है अर्थात् माया या अविद्या ब्रह्म की शक्ति नहीं होती क्योंकि ब्रह्म निर्विकार, निराकार है। जैसे ही अविद्या प्रकट होती है अर्थात् ब्रह्म के साथ उसका सम्पर्क

1- अविद्याप्रत्युपस्थापितद्वैतसंपृक्त आत्मा स्वप्नजागरितावस्थयोः कर्ता दुःखी भवति, स तच्छ्रमापनुत्त्यै स्वमात्मानं परं ब्रह्मप्रविश्य विमुक्त कार्यकरण संघातो कर्तासुखी भवति संप्रसादावस्थायाम्। तथामुक्तयवस्थायामप्य-विद्याध्वान्तं विद्याप्रदीपेन विधूयात्मैव केवलोनिमतेः सुखी भवति।
शा0भा0ब्र0सू0 2/3/40 ;

2- एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्योविज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्तीति।
वही 1/3/19 ;

होता है ब्रह्म की संज्ञा ब्रह्म न रहकर 'ईश्वर' की संज्ञा दी जाती है । वैसे आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में कई स्थलों पर दोनों में अभेद मानते हुए ब्रह्म के लिये ईश्वर शब्द का ही प्रयोग किया है । अविद्या की यथार्थता जगत् को उत्पन्न करने में ही है । यह न तो ब्रह्म के समान यथार्थ ही है और न आकाशकुसुम की भाँति अभावात्मक है । अविद्यात्मक यह बीज शक्ति अव्यक्त शब्द से कही जाती है । परमेश्वर के आश्रित इस मायामयी एवं महासुषुप्ति में जीव शयन करते हैं ।[1]

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि शुद्धब्रह्म से इस विचित्र नामरूपात्मक जगत् की उत्पत्ति होनी असम्भव है क्योंकि वह निर्विकार है । किन्तु ब्रह्म से भिन्न स्वभाव वाली उसकी शक्ति भी अकेली जगत् की सृष्टि नहीं कर सकती क्योंकि जडप्रकृति में कार्यविषयक ज्ञानादि नहीं होते, अत: माया रूप सहायक कारण सहित ब्रह्म जगत् की रचना करता है ।अनभिव्यक्त नामरूप होने के कारण माया को अव्याकृत कहा गया है ।माया के एक होने पर भी उसकी अविद्या रूप उपाधियाँ अनेक हैं । आचार्य शङ्कर माया और अविद्या में भेद नहीं मानते हैं उनके अनुसार माया या अविद्या अव्यक्त है और वही व्यक्त होने पर बुद्धिरूप से जानी जाती हैं । बुद्धियाँ प्रति जीव के पास अलग-अलग होती हैं ।यही जीव की

1- अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्ति: यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिता:शेरते संसारिणो जीवा: ।

शा०भा०ब्र०सू० 1/4/3 ;

अविद्यावत्त्वेनैव जीवस्य सर्व: संव्यवहार:संततो वर्तते । वही1/4/3 ;

उपाधि बनती हैं । माया या अविद्या और बुद्धि में कारण-कार्य सम्बन्ध है एक अव्यक्त है तो दूसरी व्यक्त । इसी बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य या अपरब्रह्म या ईश्वर को ही ' जीव ' कहते हैं ।

चूंकि अक्षय ब्रह्म ही सबके मूल में विद्यमान है इसलिये इस जगत् में निरन्तर उन्नत से उन्नत प्रकार की अभिव्यक्तियाँ अपने को प्रकट करती हैं ।[1] जिस प्रकार प्राण धारियों की श्रृंखला में ऊपर मनुष्य से लेकर नीचे घास की पत्ती तक में क्रमशः ज्ञान तथा शक्ति आदि गुण कम होते देखे जाते हैं । इसी प्रकार ऊपर की श्रेणी में भी नीचे की ओर मनुष्य से लेकर ऊपर हिरण्यगर्भ की ओर क्रमशः ज्ञान तथा शक्ति आदि का बढ़ती हुई अभिव्यक्ति देखी जाती है[2]। व्यावहारिक जगत् को हम निम्न प्रकार से विभक्त कर सकते हैं {1} ईश्वर, जो जीवों के कर्मफलों का प्रदाता है ।{2} नामरूपात्मक जगत् प्रपञ्च अर्थात् जहाँ पर रहकर जीव कर्म करते हैं और {3} जीवात्माएं जो कि प्रत्येक नये जन्म में विगत जन्मों में किये गये अपने कर्मों का फल भोगता है । इन दो रूपोंवाले जगत् में एक रूप भोग्य विषय का है तथा दूसरा रूप इन विषयों का भोक्ता जीव है ।अतः इस भौतिक शरीर की संज्ञा ' क्षेत्र ' कही जाती है क्योंकि इसके माध्यम से ही

1- यद्यप्येक एव आत्मा सर्वभूतेषु स्थावर जङ्गमेषु गूढस्तथापि चित्तोपाधि विशेषतारतम्याद् आत्मनः कूटस्थनित्यस्यैक रूपस्याप्युत्तरोत्तरम् आविष्टस्य ऐश्वर्य शक्ति विशेषः श्रूयते । {शा०भा०} .. .. .

2- यथाहि प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादिस्तम्बपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादिप्रति-बन्धः परेण भूयान्भवन्दृश्यते,तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भ पर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याभिव्यक्तिरपि परेण भूयसी भवति । ब्र०सू०शा०भा० 1/3/30 ;

जीवात्माएँ कर्म कर सकती हैं एवं अपनी कामनाओं की पूर्ति कर सकती हैं तथा स्वकृत पूर्वकर्मों के फलों का उपभोग भी करती हैं।[1]

इस संसार-रूप जगत् में प्राणियों के विभिन्न प्रकार पाये जाते हैं जिनके जीवन के भी नानाविध प्रकार हैं तथा भिन्न-भिन्न लोक हैं जो प्राणियों के अपने -अपने कर्मफलों के आधार पर प्राप्त होते हैं। इन प्राणियों की एक श्रेणीबद्ध परम्परा होती है, जिसमें निम्नतम श्रेणी में वे प्राणी आते हैं जिनके पूर्वजन्म के कर्म अत्यन्त सीमित हैं और उच्चतम श्रेणी के अन्तर्गत देवता होते हैं जो अतीन्द्रियलोक के निवासी हैं।

आचार्य इस जगत् प्रपञ्च की उपमा मशाल से देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार मशाल को घुमाने पर अग्नि की तरह- तरह की आकृतियाँ दिखायी देती हैं और घुमाना बन्द करते ही उनका दिखायी देना बन्द हो जाता है। यदि विचार किया जाय तो वस्तुत: वे मशाल से न तो निकलती हैं और न तो उसमें लीन ही होती है और न कहीं अन्यत्र से ही उनका आना जाना होता है। उनकी प्रतीति केवल मशाल के स्पन्दन का ही फल है वस्तुत: उसकी सत्ता नहीं है। इसी प्रकार इस दृश्य-प्रपञ्च की प्रतीति केवल मन के स्पन्दन के कारण ही होती है और मन के अमनीभाव को प्राप्त होते ही न जाने कहाँ चला जाता है, किन्तु प्रपञ्च की प्रतीति और अप्रतीति दोनों ही भ्रान्तिजनित है परमार्थ

1- फलोपभोगार्थम्·· ······क्षेत्रसंज्ञक: सर्वप्राणिकर्मफलाश्रय:·· ·· ··
अविद्याकामकर्मवासनाश्रयलिङ्गोपाध्यात्मेश्वरौ । शा०भा०मु०उ०3/1/1 ;

दृष्टि से न तो उसकी उत्पत्ति होती है और न लय । इस भ्रान्ति का आधार परब्रह्म है, क्योंकि कोई भी भ्रान्ति निराधार नहीं हो सकती । अत: रज्जु में सर्प अथवा शुक्ति में रजत के समान परब्रह्म में ही इस प्रपञ्चभ्रम की प्रतीति हो रही है । ऐसा मानना चाहिए ।

सिद्धान्त यही है कि जो कुछ भी भेद है वह व्यवहारदृष्टि से है परमार्थत: नहीं । वास्तविक भेद मानने पर तो परमतत्त्व उत्पत्तिशील एवं अनित्य सिद्ध हो जायेगा और ब्रह्मकी अद्वैतता बाधित हो जायेगी । अत: यह सारा द्वैत अर्थात् जगत् प्रपञ्च मनोदृश्य मात्र है ।

सृष्टि-रचना के समय जगत् नाम व रूप में विकसित होता है । प्रत्येक कल्प के अन्त में ईश्वर समस्त जगत् का प्रतिसंहार करता है अर्थात् भौतिक जगत् अव्यक्त प्रकृति के अन्दर विलय हो जाता है और जीवात्माएं कुछ समय के लिये उपाधियों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र हो जाने के कारण मानों प्रगाढ़ निद्रा में पड़ी रहती है । किन्तु चूंकि उनके कर्मों के परिमाण अभी नि:शेष नहीं हुए होते, उन्हें शीघ्र ही फिर दैहिक जीवन में प्रविष्ट होना पड़ता है, तब पुन: जन्म, कर्म और मृत्यु आदि का पुराना चक्र फिर से प्रारम्भ होता है ।

--

जीव का अन्य जीवों से सम्बन्ध :--

आचार्य शङ्कर जीवों के एकत्व और अनेकत्व के विषय में एक ऐसा सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं जिसमें आत्मा भी अद्वितीय है तथा माया और अविद्या भी एक ही है फिर भी जीव अनेक हैं । आचार्यशङ्कर के अनुसार-यदि सभी शरीरों में एक ही जीव संसार में माना जाय तो एक जीव के मुक्त होते ही संसार के सभी जीव मुक्त हो जायेंगे और सांसारिक जीवन की समाप्ति हो जायेगी । इस प्रकार दोष की प्रसक्ति हो जायेगी ।वस्तुत: होता यह है कि अविद्या से उत्पन्न भिन्न - भिन्न अन्त:करणों की उपाधि से उपहित और प्रतिबन्धित ब्रह्म ही अनेक जीवात्माओं के रूप में विभक्त सा प्रतीत होता है । सामान्यतौर पर हम केवल उन्हीं को ' जीव ' शब्द की संज्ञा देते हैं तो गमन शील हैं,सोच-समझ सकते हैं या इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करते हैं,परन्तु वे पेड़ पौधे भी ' जीव ' कहलाने के अधिकारी हैं ,जिनके अन्दर गति करने की अथवा सोचने-समझने की क्षमता नहीं है ।आचार्य शङ्कर ने प्राणियों या जीवों के चार विभाग किया है - §1§ जीवज अर्थात् मनुष्य और पशु जो जरायु से उत्पन्न होते हैं । §2§ अण्डज अर्थात् अण्डे से उत्पन्न जैसे पक्षी मेंढक तथा छिपकली §3§उद्भिज्ज या पेड़-पौधे ।§4§ स्वेदज अर्थात् पसीने से उत्पन्न जैसे जूँ आदि[1]। इन चारों प्रकार के प्राणियों में से मनुष्य ही एक ऐसा जीव है जो स्वेच्छानुसार कर्म कर सकता है कहीं भी जा सकता है ।इस प्राणी में चिन्तनशक्ति,बोध-शक्ति तथा संकल्पशक्ति भी है ।पुण्यपाप में पहचान करने की शक्ति है । यही एक योनि ऐसी है कि यदि मनुष्य चाहे तो अपने कर्मों द्वारा अपने परलोक को सुधार सकता है यही नहीं वह यदि अनासक्त भाव से कर्म करता रहे तो वह भी इस जन्म-

---

1- अण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि च उद्भिज्जानि §ऐ0उ0 5/3 :§

मृत्यु रूप संसार से सदासर्वदा के लिये मुक्त हो सकता है । मनुष्य योनि कर्म तथा भोग दोनों प्रकार की स्थली है । परन्तु इसके विपरीत जो अन्य तीनों प्रकार की योनियाँ है वे केवल भोग योनियाँ हैं । अर्थात् इनमें केवल कर्मों का फल ही जीव भोगता है ।उसे कर्म करने की स्वतन्त्रता कदापि नहीं होती है । इन तीनों भोग-योनियों में भी स्थावर या पेड़-पौधों का शरीर अत्यन्त ही दुःखरूप है ।श्रुति का कथन है कि शरीर से उत्पन्न कर्म दोष के कारण ही मनुष्य स्थावरत्व भाव को प्राप्त होता है ।शुभकर्मों से शुभ जन्म अशुभ कर्मों से अशुभ जन्म[1]। पशु-पक्षी तथा पेड़ पौधों के भाग्य में अनन्त दुःख है ।

आचार्य ने ब्रह्मसूत्र में एक स्थान पर इस प्रकार से भी जीवों का विभाजन किया है - §1§ देव §2§ मनुष्य §3§ पशु आदि ।देवता उत्तम सुख के भागी हैं मनुष्य मध्यम सुख के भागी हैं तथा पशुपक्षी आदि अधोगति वाले प्राणी निम्नसुख के भोक्ता हैं । इस प्रकार इनके सुख दुःख में विषमता केवल तत्-तत् जीवगतकर्म हैं ।[2]पशु तथा पेड़-पौधे नितान्त परतन्त्र भोग योनि हैं । इनमें सुख दुःख का पूरा ज्ञान तो नहीं होता है पर उसका अनुभव वे अवश्य ही करते हैं । शङ्कर के द्वारा विभाजित इस विभाग के द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि देवता को अनन्त सुखोपभोग के साधन मिलता है मनुष्य को सुखदुःख का सम्मिश्रण तथा पशु और पेड़-पौधों को अत्यधिक दुःख की प्राप्ति होती है ।

1- भवत्वन्येषां जन्तूनामपुण्य सामर्थ्येन स्थावरभावमुपगतामेतदुपभोगस्थानम् । शा0भा0ब्र0सू03/1/24 ;

2- देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति । वही 2/1/34 ;

इनमें से प्रत्येक जीव को एक-एक बुद्धि और एक एक शरीर प्राप्त होते हैं । बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में आचार्य लूताकीट[जाल बनाने वाला कीड़ा] तथा अग्नि निस्फुलिङ्‌ग का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार ये दोनों कारकभेद न होने पर भी अपनी प्रवृत्ति दिखाते हैं [1] तथा प्रवृत्ति से पूर्व इनमें स्वरूपत: एकत्व होता है ठीक उसी प्रकार आत्मबोध से पूर्व इस विज्ञानमय आत्मा के स्वरूप से वागादि समस्त प्राण, समस्त लोक, सम्पूर्ण कर्मफल, समस्त देवगण और समस्त भूत अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त प्राणिसमुदाय विविधरूप से उत्पन्न होते हैं ।[2] यहाँ यह नहीं समझा जाना चाहिए कि विज्ञानात्मा परमात्मा का विकार या अंश है । वरन् 'क्षुद्राविस्फुलिङ्‌गा:' तो जीव और आत्मा के एकत्व की प्रतीति ही कराते हैं जैसे अग्नि की चिनगारी भी अग्नि ही होती है अर्थात् उसमें भी दाहशक्ति होती है । भले ही कुछ कम हो ।यहाँ शङ्‌कर ने यह भी कहा है कि अनेक जीवों का उत्पन्न होना आत्मा का उपाधियों के संपर्क से ही सम्भव हो सकता है अन्यथा नहीं अतएव जीव का जीवत्व उपाधिजनित ही है[3]। इस प्रकार उपाधियों के बल पर असंख्य जीवों की उत्पत्ति होती है और उनका नाश भी होता है । यही कारण है कि जिस समय एक जीव सुखी

1- ऊर्णनाभिर्लूताकीट एक एव प्रसिद्ध:सन्स्वात्माप्रविभक्तेन तन्तुनोच्चरेद्-द्गच्छेत्।... यथा एकस्मादग्ने:क्षुद्रा अल्पा विस्फुलिङ्‌गा ... ।
बृ०उ०शा०भा०2/1/20 ·

2- सर्वे प्राणा वागादय:सर्वेलोकाभूरादय:सर्वाणि कर्मफलानि सर्वे देवा: प्राणलोकाधिष्ठातारोऽग्न्यादय: सर्वाणि भूतानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि प्राणिजातानि । वही 2/1/20 ;

3- उपाधिसम्पर्कजनितप्रबुध्यमानविशेषात्मान इत्यर्थ: ।वही 2/1/20 ;

या दु:खी होता है उस समय अन्य जीवों पर उसका प्रभाव कतई नहीं पड़ता है अर्थात् सभी एक साथ सुख या दु:ख का अनुभव तत्काल नहीं करते हैं वरन् वे अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही फल प्राप्त करते हैं और उसी के अनुरूप ही उन्हें सुखदु:खादि की अनुभूति तत्तत्काल में हुआ करती है[1]।

परमात्मा ही आकाश के समान सूक्ष्म सर्वगत और निरवयव कहा गया है और वही घटाकाश के समान क्षेत्रज्ञ जीवों के रूप में उत्पन्न हुआ माना जाता है[2]। अत: जिस प्रकार घटादि उपाधियों की उत्पत्ति से घटाकाशादि की उत्पत्ति तथा घटादि के नाश से घटाकाशादि का नाश होता है उसी प्रकार सूक्ष्म देहादिसंघात से ही 'जीवत्व' संज्ञा प्राप्त करने वाले जीव की उत्पत्ति होती है और इन्हीं देह-संघातों के नाश होने पर जीव का जीवत्व समाप्त हो जाता है[3]। अत: देहादि उपाधियों के द्वारा ही जीवों की अनेकता सम्भव होती है ।यहाँ यह शङ्का भी हो सकती है कि जब सम्पूर्ण देहों में एक ही आत्मा है, और वह भी अद्वितीय है यह तो प्रसिद्ध ही है[4],तो एक आत्मा के जन्म लेने पर या मृत्यु होने पर अथवा सुख दु:खादिमान् होने पर जितने भी जीव हैं

1- नापि जीवान्तरगतसुखदु:खमोहादिना जीवान्तरस्य बद्धस्यमुक्तस्य वा सम्बन्ध:,उपाधितो व्यवस्थाया: सम्भवात् ।शा०भा०वे०उ०।/

2- आत्मा परो हि यस्मादाकाशवत्सूक्ष्मो निरवयव: सर्वगत आकाशवदुक्तो जीवे: क्षेत्रज्ञैर्घटाकाशैरिव घटाकाशतुल्य उदित उक्त: । शा०भा०मा०उ०3/3 ;

3- यथाघटाद्युत्पत्त्या घटाकाशाद्युत्पत्ति:,यथा वा घटादिप्रलये घटाकाशादिप्रलयस्तद्वद्देहादिसंघातोत्पत्त्या जीवोत्पत्तिस्तत्प्रलये च जीवानामिहात्मनि प्रलयो न स्वत:इत्यर्थ: । वही 3/4 ;

4- एकमेवाद्वितीयम् । छा०उ० 6/2/1 ;

सभी का उसी समय में जन्म-मरण होना चाहिए अथवा सुखी दु:खी होना चाहिए। फिर इन सभी जीवों में कर्मफलों की संकरता हो जायेगी अर्थात् कर्म एक जीव करेगा और उसका फल सभी भोगेंगे। इस प्रकार तो कर्म और फल की संकरता भी हो जायेगी। क्योंकि बुरे कर्म कोई जीव करेगा और उसका फल अन्य जीव भुगतेगा। ऐसा न तो तर्क संगत है और न ही उचित है। इसी शङ्का का समाधान करते हुए आचार्य शङ्कर कहते हैं कि जिस प्रकार लोक में हम देखते हैं कि एक घटाकाश के धुएं और धूल से युक्त हो जाने पर अन्य घटाकाशों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है अर्थात् सभी घटाकाश धूलि और धुएं से आच्छन्न नहीं हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार एक जीव के कर्म करने से उत्पन्न सुखदु:ख मोह रूप फल का भोक्ता वही जीव होगा जिसने कर्म किया होगा। अन्य जीवों का सम्बन्ध किसी एक जीव के कर्मों से न होकर, प्रत्येक जीव के स्वकृत कर्मों से ही होता है अर्थात् प्रत्येक जीव अपने ही कर्मों का फल भोगता है[1]। इस प्रकार उपाधियों के बल पर ही संसार में नियमितता रहती है अन्यथा कर्म और फल की संकरता उत्पन्न हो सकती है। अत: यह सिद्ध हुआ कि एक जीव के सुखादि-मान होने पर सभी जीव सुखादिमान नहीं हो सकते हैं। इसी बात को आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र में भी कहा है कि एक आत्मा स्वीकार करने पर भी कर्मफल का संकर या मिश्रण नहीं होता है, भले ही स्वामी (परमात्मा) एक हो, क्योंकि उपाधि भेद से ही शरीर भेद भी होता है, अत: एक शरीर में रहने वाले कर्ता-

---

1— यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभियुते संयुक्ते न सर्वे घटाकाशादयस्तद्रजो धूमादिभि: संयुज्यन्ते तद्वज्जीवा: सुखादिभि:।

शा०भा०मा०उ० 3/5।

भोक्ता जीवात्मा का अन्य शरीरों के साथ सम्बन्ध किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता है । उपाधिगत भेद तो अद्वैत-वेदान्तियों को भी मान्य है और चूंकि उपाधियाँ अनेक होती हैं और जीव इन्हीं उपाधियों के ही अधीन होता है, अत: कर्मफल की संकरता किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हो सकती[1]।

आचार्य शङ्कर ने आभासवाद को प्रदर्शित करने वाले 'आभास एव च' इस सूत्र के भाष्य में भी इसी बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । उनके अनुसार जैसे जलाशयादि में आभासित या प्रतिबिम्बित सूर्य दृष्टिगत होता है ठीक उसी प्रकार से परमात्मा का प्रतिबिम्ब या आभास बुद्धि में पड़ता है जिसे 'जीव' कहा जाता है । इस तथ्य पर यदि विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि बुद्धिगत प्रतिबिम्ब न तो साक्षात् परमात्मा है और न इससे भिन्न वस्तु ही है । और जैसे-जल सूर्यक अर्थात् एक स्थानगत जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के किसी कारण वश कम्पन होने पर अन्य सूर्यक में कोई भी प्रभाव नहीं दृष्टिगत होता उसी प्रकार एक जीव के कर्मफल सम्बन्धी होने पर अन्य जीव का उस (कर्मफल) के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है[2]।

1- नहि कर्तृभोक्तुर्जीवात्मन: संतत: सर्वै:शरीरै: सम्बन्धोऽस्ति । उपाधितन्त्रो हि जीव इत्युक्तम् ।उपाध्यसंतानाच्च नास्ति जीवसंतान: ।ततश्च कर्मव्यतिकर फलव्यतिकरो वा न भविष्यति ।
(शा०भा०ब्र०सू० 2/3/49)

2- यथा नैकस्मिन्जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते, एवं नैकस्मिन्जीवे कर्मफलसम्बन्धिनि जीवान्तरस्य तत्सम्बंध: ।
(ब्र०सू०शा०भा०2/3/50)

इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य शङ्कर वैषम्यनैघृण्य अधिकरण में यह कहते हैं कि ईश्वर-रचित जो यह विषम सृष्टि है उसका मुख्य कारण जीवगत कर्म ही हैं।[1] जैसे कि लोक में ही हम देखते हैं कि अनेक प्रकार के जीव हैं कुछ उच्च श्रेणी के कहे जाते हैं जैसे देवता इस श्रेणी के जीव अपने पुण्यों के प्रभाव से स्वर्गादि दिव्य लोकों में निवास करते हैं परन्तु पुण्य समाप्त होते ही फिर कर्म करने के लिये इसी लोक में आ जाते हैं। मध्यम श्रेणी में मनुष्य आते हैं। मनुष्य शरीर में कर्म और भोग दोनों ही कार्य सिद्ध होते हैं। निम्न श्रेणी पशु - पक्षियों की होती है यह योनि केवल भोग-योनि कहलाती है। इस शरीर में रहने वाले जीव कर्म करने में असमर्थ होते हैं। इसके अतिरिक्त चौथे प्रकार के जीव कीटपतंगे आदि क्षुद्र जीव होते हैं, जिनके जन्म और मृत्यु के मध्य अधिक अन्तराल नहीं होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जीवों को स्वकृत कर्मों के अनुसार ही फल मिलता है अर्थात् अगला जन्म तथा उस जन्म का भोग और आयु भी पूर्वजन्मकृत कर्मों पर ही निर्भर करता है। संसार में कितने ही मनुष्य ऐसे देखने को मिलते हैं जो इस जन्म

1- एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति। देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणं भवन्ति। शा०भा०ब्र०सू० 2/1/34;

में अनेक पापों को करते हुए भी धनादि - युक्त होकर सुखी जीवन व्यतीत कर रहे हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो अत्यधिक पुण्यात्मा होने पर भी दुःखी जीवन जीने को विवश हैं ईश्वर कृत ऐसी विषम सृष्टि देखकर ईश्वर के न्याय पर भी संदेह होने लगता है पर ईश्वर भी क्या करे वह भी तो कर्म के वश में ही है । जीवों के कर्मों के अनुसार ही फल देना ईश्वर की विवशता है ।

जीव की बद्धरूपता

बन्धन का कारण :--

जीव का ' स्थूल,सूक्ष्म तथा कारण '- इन तीनों शरीरों के साथ सम्बन्ध होना ही उसका बन्धन कहलाता है । इसके विपरीत इन तीनों के साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना ही जीव का ' मोक्ष ' कहलाता है, जो कि संसार से जीव का सम्पर्क एकदम से तोड़कर उसे ' शुद्धबुद्धमुक्त और नित्य ' स्वरूप में प्रतिष्ठित होने का बोध कराता है । यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि केवल स्थूलशरीर के नष्ट होने पर अर्थात् मृत्यु होने पर जीव का सम्पर्क संसार से नहीं समाप्त हो जाता,वरन् जीव-जगत् सम्बन्ध के विच्छेद के लिये सूक्ष्म एवं कारण शरीर का नाश होना भी आवश्यक है ।सूक्ष्म शरीर का नाश तभी होता है जब उसका मूल कारण अर्थात् कारण शरीर अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाए ।

अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसा कौन सा कारण है जो जीव को इतने बड़े सांसारिक -बन्धन में बाँधता है तथा शरीरयुक्त करके उसे संसार चक्र में फँसने के लियेविवश कर देता है । इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं कि जीव के बन्धन का मूल कारण स्वयं उसका ' अज्ञान ' है ।स्वरूप की विस्मृति ही अज्ञान या अविद्या है जो उसे संसार में बारम्बार आने के लिये बाध्य करती है । अज्ञान या मिथ्याज्ञान अथवा अविद्या ही जीव के सशरीरत्व अर्थात् जीवत्व का कारण है[1] ।यद्यपि जीव ब्रह्म से अनन्य है फिर भी अविद्या,काम

1- तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम् । शा0भा0ब्र0सू0 1/1/4 ।

और कर्म के कारण ब्रह्म से भिन्न कहा जाता है । यह अविद्या किस प्रकार उत्पन्न हुई होगी क्योंकि लोक में यह देखा जाता है कि किसी भी वस्तु का कोई कारण अवश्य होता है, इसलिये अविद्या का भी कोई न कोई कारण अवश्य ही होना चाहिए । परन्तु आचार्य शङ्कर कहते हैं कि अज्ञान या अविद्या का कोई कारण नहीं होता क्योंकि वह स्वाभाविक है[1]। हाँ उसकी निवृत्ति अलबत्ता सम्भव है । जब तक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती, तब तक यह जीव कर्मफल के रागद्वेषादिरूप स्वाभाविक दोषों से प्रेरित होने के कारण मन, वाणी और शरीर से दृष्ट, अदृष्ट और अनिष्ट के साधनभूत अधर्म-संज्ञक कर्मों को करता है जिससे उसे स्थावर-पर्यन्त शरीरादि की प्राप्ति होती है, क्योंकि समस्त कर्मों का फल संसार ही है । संसार का मूल कर्मफल है । कर्मफल के भोग के लिये ही जीव को उत्तमा-धम योनियों में जन्म लेना पड़ता है । इस प्रकार अज्ञान ही संसारोत्पत्ति का कारण बनता है अर्थात् अज्ञान या भ्रान्ति से ही जीव संसरण को प्राप्त होता है । अविद्या एक ऐसे चक्र की भाँति है जिसका अन्त तो है परन्तु आदि नहीं है। आदि का निर्धारण न हो सकने के कारण ही अविद्या को अनादि कहा गया है । ब्रह्म -साक्षात्कार के अतिरिक्त इससे छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं है । अविद्या के अनादि होने से संसार को भी अनादि ही माना जाता है । यदि संसार को सादि मान भी लिया जाय तो उसकी अकस्मात् उत्पत्ति होने से मुक्त पुरुषों का भी पुनर्जन्म प्रसक्त हो जायेगा और न किये गये कर्मों का

1-(क) यस्मिन्नविद्यया स्वाभाविक्या कर्तृक्रियाफलाध्यारोपणा कृता....। शा०भा०बृ०उ० 1/4/7 ।

(ख) आत्मनि क्रियाकारकफलाध्यारोपलक्षणस्य स्वाभाविकस्या-ज्ञानस्य संसार-बीजस्यनिवृत्यर्थं.. .... ।शा०भा०क०उ० 1/1/19 ।

फल भी प्राप्त होने लगेगा और ऐसी परिस्थिति में सुखदु:खादि की विषमता भी निर्निमित्त होगी । अविद्या ज्ञान का अभाव तो है नहीं ।भ्रान्तिमय ज्ञान ही अविद्या है । इसका रूप भावात्मकरूप है । शङ्कर का यह कथन है कि अविद्या का आधिपत्य सबके ऊपर है ।उपनिषदों में उन्होंने अविद्या शब्द अज्ञान के लिये ही प्रयुक्त किया है और यह प्रमातृरूप विषयी के ज्ञान के रूप का है । यह अविद्या स्वप्नावस्था में जिस प्रकार दु:ख का कारण बनती है उसी प्रकार से ही जाग्रत् अवस्था में भी जीव को दु:खी करती रहती है । जो जो वस्तुएँ स्वप्नावस्था में रहती हैं वे सब जाग्रत काल की वासनाओं की ही परिणाम हैं[1]। अविद्या का बाध विद्या या ज्ञान से ही हो सकता है[2]।अविद्या बन्ध्यापुत्र की भाँति अभावात्मक सत्ता नहीं है क्योंकि इसकी प्रतीति होती है और हममें से प्रत्येक को इसका अनुभव होता है । यह एक यथार्थ और निरपेक्ष सत्ता भी नहीं है क्योंकि आत्मसाक्षात्कार रूपी ज्ञान से इसका बाध हो जाता है ।

मूलरूप में यह अविद्या ईश्वर की एक नित्य शक्ति है :जो ईश्वर के अधीन होकर जगत् का कारण बनती है । अविद्या जड होने के कारण स्वयं अकेली विश्वरचना नहीं कर सकती । जगत् रचना के लिये क्रिया का होना आवश्यक है जो उसे ब्रह्म या ईश्वर के साथ सम्पर्क होने से ही मिलती है । अविद्या न तो ब्रह्म के समान यथार्थ ही है और न आकाशकुसुम के सदृश अभावात्मक ही ।

1- न केचन हनन्ति,नापि वशी कुर्वन्ति,केवलंत्वविद्यावासनोद्भवनिमित्तं भ्रान्तिमात्रम् • ••••• • •। शा0भा0बृ0उ0 4/3/20।

2- एवमत्यन्तप्रक्षीयमाणाविद्या उद्भूता च विद्या सर्वात्मविषया यदा••• •। वही 4/3/20 ।

अविद्या पर आश्रित बीज-शक्ति के रूप में विद्यमान रहती है[1]। यही व्यक्त होने पर जीव की बुद्धि कही जाती है । अविद्या को उपनिषदों में कहीं पर 'अव्यक्त' शब्द से कहीं 'आकाश' शब्द से, कहीं 'अक्षर' शब्द से और कहीं 'माया' शब्द से अभिहित किया गया है[2]। माया या अविद्या सदसत् विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है और 'दृष्टनष्ट स्वरूप' होने के कारण मिथ्या है । मिथ्या उसे कहते हैं जो कभी रहे और कभी न रहे । यहाँ रहने का अभिप्राय प्रतीत होने से है ।

अविद्या और माया एक ही मूल-भ्रान्ति रूपी तथ्य के विषयिनिष्ठ और विषयनिष्ठ पक्ष को प्रस्तुत करती है । इसे अविद्या इसलिये कहते हैं क्योंकि अविद्या के द्वारा इसका उच्छेद होता है। इसी अविद्या को विषयनिष्ठ श्रृंखला या समष्टि की दृष्टि से माया कहा जाता है । शङ्कर प्रलयावस्था में भी माया के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं । शङ्कर ने अविद्या तथा माया में कोई मौलिक अन्तर नहीं किया है किन्तु परवर्ती अद्वैतवादी दोनों के मध्य भेद करते हैं ।[3]

विवेकज्ञान के होने के पूर्व तक जीव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय तथा वेदनारूप उपाधियों से परिच्छिन्न रहता है, जिससे उसे ज्योतिःस्वरूप का

1- अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः ।
शा०भा०ब्र०सू०1/4/3 ;

2- तदेतदव्यक्तं क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टम् {बृ०उ०3/8/11}, क्वचिदक्षरशब्दोदितम् {मु०उ०2/1/2} क्वचिन्मायेति सूचितम् {श्वे०उ०4/10} वही 1/4/3 ;

3- अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेनासकृत्प्रत्युक्तत्वात् ।
शा॰भा॰ ब्र॰सू॰ 2/2/2 ;

आचार्यशङ्कर ने इस मिथ्याप्रपंच की उत्पत्ति अविद्या से ही कही है[1]। आत्मा और अनात्मा अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि जड समुदाय ये दोनों धर्मी तथा इनके धर्म परस्पर विलक्षण होते हुए भी दोनों का विवेक न होने के कारण दोनों धर्मियों का एक दूसरे में अध्यास होता है अर्थात् आत्मरूपी धर्मी में 'यह मैं हूं' ऐसी अनात्म बुद्धि, तथा देह, इन्द्रिय आदि अनात्मा में 'यह आत्मा है' ऐसी आत्मबुद्धि होती है। इस सत्य और अनृत का मिथुनीकरण करके 'यह मैं' और 'यह मेरा' इस प्रकार मिथ्याज्ञान निमित्तक लोक व्यवहार होता है[2]।

इस प्रकार अविद्या से सम्पर्क हो जाने पश्चात् जीव को शरीर तथा इन्द्रियाँ प्राप्त हो जाते हैं। जीव इन सभी के प्रति अहन्ता और ममता का अभिमान करने लगता है। शरीर और इन्द्रियों से युक्त होकर जीव उनसे भिन्न होते हुए भी तदभिन्न मानता हुआ संसार-चक्र में भ्रमण करता है।

1- (क) अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्त शब्द निर्देश्या...।
शा०भा०ब्र०सू०1/4/3 ;

(ख) अविद्यावत्त्वेनैव जीवस्य सर्व:संव्यवहार:संततो वर्तते ।वही।/4/3 ·

(ग) एक एव परमेश्वर: कूटस्थ नित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते ।वही 1/3/19 ;

(घ) ईश्वरस्यात्मभूते इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्याम् अनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते · · ·वही 2/1/14 ;

2- तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेनात्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्त:सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदम् इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहार: ।अध्यास भाष्य ·

विषयेन्द्रिय संयोगजन्य सुख-दुःखरूप फल ब्रह्मादि से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी में प्रसिद्ध है[1]। मनुष्य से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सभी शरीरधारियों में सुख का तारतम्य होता है अर्थात् मनुष्य, मनुष्यगन्धर्व, देवगन्धर्व, पितर, आजानदेव, कर्मदेव, देव इन्द्र बृहस्पति, प्रजापति पर्यन्त पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर सौ गुना आनन्द प्राप्त होता है।

कठोपनिषद् के भाष्य में आचार्य ने अविद्या को प्रेयविषयक बताया है। अविद्या में फँसे हुए जीव पुत्रपशु इत्यादि सैकड़ों तृष्णापाशों से बंधे हुए व्यवहार में लगे रहते हैं और अपने को विवेकी मानते हुए मूढ़ पुरुष नाना प्रकार की अत्यन्त कुटिल गतियों को प्राप्त करते हुए जरा, मरण और रोगादि दुःखों से सब ओर भटकते रहते हैं।[2]

इस अविद्या से ही मूर्त अमूर्त और उनकी वासनारूप वह संसार क्रिया कारक फल रूप होने से आत्मभाव से आरोपित होता है तथा[3] यही अविद्या कामादि दोषमय कर्मों का मूल भी है[4]। अविद्या के साथ सम्बन्ध होने के प्रतिक्रिया स्वरूप ही जीव को शरीर, इन्द्रिय आदि मिल जाते हैं तथा जीव देह और

1- विषयेन्द्रिय संयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे। शा०भा०ब्र०सू० 1/1/4;

2- अविद्यायामन्तरे मध्ये घनीभूत इव तमसि वर्तमाना वेष्ट्यमानाः पुत्रपश्वादि तृष्णापाशशतैः। ते॰ ॰कुटिलामनेक रूपां गतिम् इच्छन्तो जरामरण रोगादि दुःखैः परियन्ति। शा०भा०क०उ० 1/2/5॰

3- सोऽयं व्याकृतरूपः संसारो विद्याविषयः, क्रियाकारकफलात्मकतया आत्मरूपत्वेनाध्यारोपितः अविद्ययैव मूर्तामूर्ततद्वासनात्मकः। बृ०उ०सम्बन्धभाष्य पृ०39॰

4- कामादिदोषकर्मबीजभूताविद्यानिवृत्ते·····। वही 39;

श्रवणादि इन्द्रिय आदि में ' मम ' अभिमान रखने लगता है । इन्द्रिय में ममाभिमान रहित पुरुष का ' मैं सुनता हूँ ' या मै देखता हूँ ' इत्यादि लोकप्रसिद्ध व्यवहार नहीं होगा जैसे अन्धपुरुष का ' मैं देखता हूँ ' ऐसा व्यवहार नही सुना गया, इसलिये इन्द्रियों में ' मम ' अभिमान मानना युक्त है । परन्तु इन्द्रियों के आश्रयभूत देह के बिना इन्द्रियों का व्यवहार असम्भव है । अत: देह का ग्रहण भी आवश्यक है । परन्तु देह व्यापार की सिद्धि के लिये देह में आत्मभाव भी स्वीकार करना पड़ता है । जैसे आत्मअनात्म विवेक शून्य पशु का खानपानादि व्यवहार अध्यास मूलक है, उसी प्रकार अविद्वान् का भी व्यवहार अध्यासमूलक ही है । इससे यह सिद्ध होता है कि अध्यास होने पर ही लोकव्यवहार होता है । जाग्रत् आदि अवस्थाओं में अध्यास के होने पर ' मैं, मेरा, कर्तृत्व भोक्तृत्वादि ' व्यवहार होता है किन्तु सुषुप्ति अवस्था में अध्यास के न होने पर नहीं होता । अतएव यह अहं , मम अभिमान अध्यासमूलक ही है । कारणात्मक यह ' अविद्या ' सुषुप्ति तथा प्रलय में स्वरूप से विद्यमान होने पर भी अनर्थमय नहीं होती है । परन्तु वही अविद्या जाग्रत् आदि अवस्थाओं में कार्य रूप से-कर्तृत्व भोक्तृत्वरूप से अनर्थ की हेतु है । आत्मा में अनात्मबुद्धि का अध्यास ही अनर्थ का साक्षात् हेतु है । बुद्धि आदि का आत्मा में स्वरूपाध्यास होने से उसमें कर्तृत्व भोकृत्व की मिथ्या प्रतीति होती है । अविद्या अनादि है, उसका कार्य होने से अध्यास भी अनादि है ।

कोई पुत्र, स्त्री आदि के पूर्ण अपूर्ण होने पर मैं ही पूर्ण, अपूर्ण हूँ, यह प्रतीतिबाह्य पदार्थों के धर्मों का अपने में अध्यास है तथा ' मैं स्थूल या कृश हूँ ' इत्यादि देहगत धर्मों का अध्यास है । और ' मैं मूक, काना, नपुंसक, बधिर, या

अन्धा हूँ' इस प्रकार की अनुभव इन्द्रियों के धर्मों का अध्यास करता है[1]।

आचार्य शङ्कर जगत् की प्रतीति का कारण अविद्या को ही मानते हैं।उनका कथन है कि अविद्या एक भ्रान्ति है जिसकी उत्पत्ति मन के अन्दर हुई है।संसार जिसका लक्षण पुण्य तथा पाप कर्मों का करना है यह एक मिथ्या विचार है और यह अविद्या से उत्पन्न निर्णय में भेदभाव के लक्ष्य न करने से उत्पन्न होता है और नाम रूपों से निर्मित क्रियाशीलता के साधनों के संघात से बना है।अविद्या एक ऐसी शक्ति है जो हमें अपने देवस्वरूप जीवन से दूर रखती है। ब्रह्म की जगत् के रूप में प्रतीति हमारे अज्ञान के कारण है,वैसे ही जैसे कि रस्सी का साँप के रूप में प्रतीत होना हमारे इन्द्रिय-दोष के कारण होता है।ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर यह प्रतीति स्वयं दूर हो जाती है। अत:यह सारा दृश्यप्रपञ्च मन के स्पन्दन का ही फल है और मन के अमनीभाव को प्राप्त होते ही न जाने कहाँ चला जाता है[2]।इस प्रपञ्च की प्रतीति अप्रतीति दोनों ही भ्रान्ति-जनित है अर्थात् आविद्यक है।परमार्थ दृष्टि से न तो उसकी उत्पत्ति होती है और न लय। इस भ्रान्ति का आधार परब्रह्म है क्योंकि कोई भी भ्रान्ति निराधार नहीं हो सकती अत: रज्जु में सर्प अथवा शुक्ति में रजत के समान परब्रह्म में ही इस प्रपञ्च भ्रम की प्रतीति हो रही है।

1- तद्यथा-पुत्रभार्यादिषुविकलेषु सकलेषु वाअहमेव विकल: सकलोवेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति,तथा देहधर्मान्-स्थूलो हं ··· ··· लङ्घ्याामिवेतितयेन्द्रियधर्मान्-मूक:काण:· · ··अहमिति।शा0भा0 1/1/1

2- अतो मनोविकल्पनामात्रं द्वैतमितिसिद्धम्। शा0भा0मा0उ0 2/32।

जीव का शरीर एवं बुद्धिग्रहण :--

बुद्धि में प्रतिबिम्बित आत्मा ही 'जीव' कहलाता है । जीव शरीर और मन से युक्त होता है । जिस काल में ब्रह्म बुद्धि और इन्द्रियादि उपाधियों से युक्त होकर 'जीव' संज्ञा को प्राप्त करता है, वही जीव का व्यवहार काल कहलाता है ।परमार्थ में भी जीव और ब्रह्म रूप की दो विभिन्न सत्ताएँ स्वीकार करने पर सबसे बड़ी अनुपपत्ति यह होगी कि जीव का 'मोक्ष' ही सर्वथा असम्भव हो जायेगा ।

अत: यह कहा जा सकता है कि त्रिकालाबाधित सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही माया के सम्पर्क में आने पर स्वरूप को भूल जाता है अर्थात् जीव संज्ञा को प्राप्त करता है । जिसके फलस्वरूप तद्गत सुखदु:खादि को स्वयंगत समझने लगता है । संसार में विभिन्न कर्मों को करने वाला और उन कर्मफलों को भोगने वाला भी जीव स्वयं को ही समझने लगता है जबकि स्थिति इससे अत्यन्त भिन्न है ।जीवात्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व असम्भव है क्योंकि वस्तुत: तो वह शुद्ध ब्रह्म ही है[1]। स्थूल शरीर के माध्यम से जीव कर्मों को करता है तथा उन कर्मों के फलों को भोगता है । अपने शरीरी रूप में जीवात्माएँ प्राण तथा सूक्ष्म शरीरों के संग रहते हैं और जब तक उन्हें 'मोक्ष' नहीं होता तब तक ये शरीर उनके साथ लगे रहते हैं । जीवात्मा का बुद्धि के साथ यह सम्बन्ध तब तक बना रहता है जब तक कि संसार की अवस्था आत्मसाक्षात्कार के द्वारा समाप्त नहीं हो

1- न स्वाभाविकं कर्तृत्वमात्मानं संभवति,अनिर्मोक्ष . . . . । शा0भा0
न कश्चिज्जायते जीव:कर्ता भोक्ता च नोत्पद्यते केनचिदपिप्रकारेण ।
शा0भा0मा0उ0 3/48 ;

जाती । आचार्य ने बुद्धि को जीवात्मा के करण रूप में स्वीकृत किया है[1]। मृत्यु के पश्चात् भी जीव का बुद्धि तथा सूक्ष्मशरीर के साथ सम्बन्ध बना रहता है यह सम्बन्ध केवल मुक्ति प्राप्त होने पर ही विच्छिन्न हो सकता है । इन्द्रियों के सहित मन को ' शरीर ' कहते हैं ।जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों ही अवस्थाएँ शरीर के माध्यम से प्रकट होती हैं तथा जीव के अमृतत्व की प्राप्ति होने के पश्चात् भी विदेहमुक्ति होने तक अर्थात् जीवन्मुक्ति होने पर भी शरीर ही जीव का अधिष्ठान रहता है ।शरीर ही जीव का भोगाधिष्ठान है भले ही वह सशरीरी हो या अशरीरी[2]।

जीव के शरीर 3 प्रकार के कहे गये हैं --

§1§ स्थूल शरीर

§2§ सूक्ष्म शरीर

§3§ कारण शरीर

इन शरीरों में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है । इन शरीरों की रचना विभिन्न प्रकार के कोशों से होती है । ' कोश ' या म्यान के समान ' आत्मा ' का आच्छादक होने के कारण इन्हें ' कोश ' कहा जाता है[3]। कोशों की संख्या पाँच

1- बुद्धेः करणत्वाभ्युपगमात् । शा0भा0ब्र0सू0 2/3/40 ;

2- शरीरमप्यत्र सहेन्द्रियमनोभिरुच्यते ।तच्छरीरम् अस्य सम्प्रसादस्य त्रिस्थानतयागम्यमानस्यामृतस्यमरणादिदेहेन्द्रियमनोधर्म वर्जितस्येत्येतत् ।
शा0भा0छा0उ0 8/12/1 ;

3- रसादयोऽन्नरसमय:प्राणमय इत्येवमादय:कोशा इव कोशा तै0उ02/1/1 ;
अस्यादेरिवोत्तरोत्तरस्यापेक्षया बहिर्भावात्पूर्वस्य व्याख्याता अन्नमयादिभ्य आनन्दमयान्तेभ्य आत्मभ्योऽभ्यन्तरतमं ब्रह्म विद्यया प्रत्यगात्मत्वेन दिदर्शयिषु शास्त्रमविद्याकृत पञ्चकोशायनयनेन अनेकतुषकोद्रवितुषीकरणेनेव तदन्तर्गततण्डुलान्प्रस्तौति 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात् ' इत्यादि तै0उ0शा0भा 2/2 ;

कही गयी है ।

स्थूल शरीर	1- अन्नरसमयकोश
	2- प्राणमय कोश
	3- मनोमय कोश
	4- विज्ञानमय कोश
	5- आनन्दमय कोश
सूक्ष्म शरीर	1-प्राणमय कोश
	2-मनोमय कोश
	3-विज्ञानमय कोश
	4-आनन्दमय कोश
कारण शरीर	1- आनन्दमय कोश

स्थूल शरीर :-- 'अन्नरसमय' कोश सर्वाधिक बाह्य होता है । स्थूल तत्वों से निर्मित होने के कारण नेत्रों द्वारा दृष्टिगत होता है और मृत्यु के समय जीव इसको छोड़ भी देता है । 'अन्नजल' से निर्मित यह कोश' स्थूलशरीर में ही रहता है । यह शरीर अन्न से ही उत्पन्न होता है और अन्न से ही जीवित रहता है । स्थूल शरीर में जीव अत्यधिक आत्मभाव रखता है । पृथिव्यादि पाँच स्थूल भूतों से निर्मित होने के कारण यह भौतिक शरीर भी कहा जाता है । जाग्रत्अवस्था में स्थूल शरीर के साथ कारण शरीर और सूक्ष्म शरीर तथा अन्नमयकोश सहित प्राणमयमनोमयविज्ञानमय और आनन्दमय कोश भी जीव की

उपाधि बनते है, क्योंकि कारण शरीर और सूक्ष्म सरीर से संयुक्त हुए बिना जीव को स्थूल शरीर नहीं प्राप्त हो सकता । कार्यकरण संघात अर्थात् देह - इन्द्रिय संघात जिसके द्वारा आत्मवान् होता है वही विज्ञानमय ही आत्मा है । जैसे किसी चेतन अधिष्ठाता की प्रेरणा के बिना लकड़ी का यन्त्र हिल नहीं सकता, उसी प्रकार इस स्थूल शरीर की प्राणादि चेष्टाएँ किसी चैतन्यात्मा के बिना असम्भव है[1] । इसलिये स्थूल शरीर में जो प्राणनादि चेष्टाएँ होती हैं वह सब विज्ञानात्मा के द्वारा ही सम्पादित होती हैं ।

सूक्ष्मशरीर :-- 'प्राणमय कोश'[2] मनोमय कोश[3] और विज्ञानमय कोश[4] ये तीनों मिलकर सूक्ष्म शरीर की रचना करते हैं । प्राणमय कोश से युक्त होकर जीव 'प्राणन क्रिया करते हैं । प्राण से ही जीव को जीवनीशक्ति की प्राप्ति होती है । {प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान} पाँच वायु, {वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ} पाँचों कर्मेन्द्रियों के साथ संयुक्त होकर 'प्राणमयकोश' का निर्माण करती हैं ।

1- चेतनावदनधिष्ठितस्य दारुयन्त्रस्येव प्राणनादि चेष्टाविद्यन्ते, तस्माद् विज्ञानमयेनाधिष्ठितं विलक्षणेन दारुयन्त्रवत् प्राणनादिचेष्टां प्रतिपद्यते । शा०भा०बृ०उ०3/4/1 ·

2- अन्नरसमयात्पिण्डादन्योऽव्यतिरिक्तोऽन्तरोऽभ्यन्तर आत्मा पिण्डवदेव मिथ्यापरिकल्पित आत्मत्वेन प्राणमय··· · · ·।तै०उ०2/2/1 ;

3- अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय: ।मन इतिसंकल्पाद्यात्मकमन्त:करणंतन्मयो मनोमय: । वही 2/3/1 ;

4- मनोमयस्याभ्यन्तरो विज्ञानमय: । वही 2/4/1 ;

मन (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना तथा घ्राण) पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर "मनोमयकोश" का निर्माण करता है। अन्त:करण की संकल्पात्मक वृत्ति ही 'मन' कहलाती है।

चौथा कोश "विज्ञानमय कोश" कहलाता है। अन्त:करण की निश्चयात्मिका वृत्ति बुद्धि कहलाती है। विषयेन्द्रिय संयोग होने पर मन के संकल्पविकल्प का निश्चय बुद्धि ही करती है। बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर "विज्ञानमय कोश" बनाती है। बुद्धि में सत्वगुण अत्यधिक मात्रा में होता है अत: वह एक दर्पण की भाँति स्वच्छ एवं चमकदार होती है। विज्ञानमय कोशावच्छिन्न चिदात्मा ही संसार-चक्र में भ्रमण करने वाला 'जीव' कहा जाता है। जीव का संसारित्व बुद्धिगत ही होता है। बुद्धि को विज्ञान कहते हैं जो तन्मय है वह विज्ञानमय है[1]। जीवात्मा को बुद्धि-विज्ञानरूप उपाधि के सम्पर्क का विवेक न होने के कारण 'विज्ञानमय' कहा जाता है। यह बुद्धिरूप विज्ञान से सम्पर्क हो जाने पर ही अनुभव में आता है[2]। जड़ बुद्धि में प्रतिबिम्बित चेतन तत्त्व या आत्मा ही 'जीव' कहलाता है और वही बुद्धिगत सुखदु:खरूप धर्मों को स्वगत ही समझता है तथा सुखी और दु:खी होता है। जीव का शरीर सत्रह तत्त्वों से मिलकर बना होता है-5 ज्ञानेन्द्रियों, 5कर्मेन्द्रियों, 5प्राण मन और बुद्धि

1- विज्ञायतेऽनेनेत्यन्त:करणं बुद्धिरुच्यते, तन्मयस्तत्प्रायो विज्ञानमय:।
शा0भा0बृ0उ0 2/1/16 ;
स ते तव कार्यकरण सङ्घातस्य आत्मा विज्ञानमय:। वही 3/4/1 ·

2- बुद्धि विज्ञानोपाधिसम्पर्काविवेकाद् विज्ञानमय इत्युच्यते -बुद्धिविज्ञान-सम्पृक्त एव हि यस्मादुपलभ्यते, राहुरिव चन्द्रादित्य सम्पृक्त:।
शाभा0बृ0उ0 4/3/7 ;

आचार्य शङ्कर ने माण्डूक्योपनिषद् के भाष्य में जीव को उन्नीस मुखों या तत्वों वाला बताया है - 5ज्ञानेन्द्रिय,5 कर्मेन्द्रिय,5 प्राणमन बुद्धि चित्त,और अहङ्कार[1]। सूक्ष्म शरीर यद्यपि भौतिक है फिर भी पञ्च भूतों की तन्मात्राओं से निर्मित होने के कारण पारदर्शक होता है और यही कारण है कि जिस समय जीव इस भौतिक या स्थूल शरीर को छोड़कर परलोकगमन करता है उस समय किसी की आँखों से वह दिखाई नहीं पड़ता है । सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई सूक्ष्मनाड़ियों में सत्तरहतत्वों वाला लिङ्गशरीर निवास करता है । ये सत्तरह तत्व इस प्रकार हैं - 5 ज्ञानेन्द्रिय,5 कर्मेन्द्रिय,5 प्राण,मन और बुद्धि ।संसार के विभिन्न कर्म तथा उनकी वासनायें सभी इसी जीव के अधीन हैं । वासनाओं का आश्रयभूत यह 'लिङ्गशरीर' सूक्ष्म होने के कारण स्फटिकमणि के सदृश अत्यधिक स्वच्छ है[2]। जीव को सूक्ष्मशरीर की प्राप्ति सृष्टि के समय ही से हो जाती है जो उसके मोक्षपर्यन्त विद्यमान रहती है केवल स्थूल शरीर बारम्बार परिवर्तित होते रहते हैं । जीव के स्थूल शरीर और उनकी योनियाँ अर्थात् जीव को किस योनि में शरीर मिलना है यह जीव के कर्मों पर निर्भर करता है । स्वभावत: सर्वगत और

1- तथैकोनविंशतिर्मुखान्यस्य बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च दश वायवश्च प्राणादय: पञ्च मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमिति मुखानितान्युपलब्धि-द्वाराणीत्यर्थ: । शा0भा0माण्डू0उ0 मन्त्र 3 ;

2- एवंविधासु नाडीषु सूक्ष्मासु वालाग्रसहस्रभेद परिमाणासु शुक्लादिरसपूर्णासुसकलदेह व्यापिनीषु सप्तदशकं लिङ्गवर्तते ।

तदाश्रिता: सर्वावासना उच्चावचसंसार धर्मानुभवजनिता: तल्लिङ्ग वासनाश्रयं सूक्ष्मत्वात् स्वच्छं स्फटिकमणिकल्पं ·· ·· ·।
शा0भा0बृ0उ0 4/3/20 ;

अनन्त होने पर भी भोक्ता प्राणों के कर्म,ज्ञान और वासना के अनुसार ही देहान्तर का आरम्भ होता है । इनमें कर्म और ज्ञान के अधीन पूर्वप्रज्ञा ही इस देह से भिन्न दूसरे कर्म-जनित स्थूल देह को रच लेती है[1]। सूक्ष्मशरीर जीवधारक शक्तियों को तब तक अपने साथ रखता है जब तक यह संसार विद्यमान है और ये सब आत्मा के साथ लगी हुई एक शरीर से दूसरे शरीर में जाती है यहाँ तक कि यदि आत्मा एक पौधे में भी प्रवेश करे तब भी ये साथ रहती हैं,यद्यपि उस अवस्था में अन्त:करण और इन्द्रियाँ स्वभावत: अपने को व्यक्त नहीं करती है । सूक्ष्म देह या लिङ्ग देह के नाश हो जाने पर ही जीव के 'जीवत्व' का नाश होता है ।

कारण शरीर:--

पाँचवाँ और अन्तिम कोश 'आनन्दमय कोश' कहलाता है[2]। जीव जिस समय सुषुप्ति और मूर्छा की अवस्था में होता है उस समय मात्र अज्ञान ही उपाधि होती है और यही अज्ञान अहङ्कारादि का,तथा स्थूल और सूक्ष्म शरीरों का कारण या लयस्थान होने से 'कारण शरीर' कहा जाता है ।इस अवस्था में मात्र अज्ञान होने के कारण जीव को आत्मानुभूति के अतिरिक्त अन्य किसी विषय का ज्ञान नहीं होता है ।अज्ञान ही जीव के जीवत्व का मूल कारण होता है । जीव के कार्यभूतशरीर और कारणात्मक शरीर {लिङ्गशरीर} दोनों

1- तत्र वासना पूर्व प्रज्ञाख्या विद्याकर्मतन्त्रा जलूकावत् संततैव स्वप्नकाल इव कर्मकृतं देहाद् देहान्तरमारभते हृदयस्थैव ।शा0भा0बृ0उ04/4/2 ;

2- आनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वान्मुख्यमात्मत्वम् शा0भा0ब्र0सू01/1/2 ;

ही दृष्टनष्ट स्वरूप है।[1]

बुद्धि :-- अविद्या के प्रथम कार्य को महत्तत्व या 'बुद्धि' कहते हैं। सृष्टि-काल में प्रति जीव को एक-एक बुद्धि प्राप्त हो जाती है। बुद्धि सत्वगुणात्मिका होती है इसमें रजोगुण एवं तमो गुण नाममात्र को ही होते हैं। इसी बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य या परमात्मा ही 'जीव' की संज्ञा को प्राप्त होता है। बुद्धि सत्वगुण के आधिक्य के कारण ही विषयों का ज्ञान करने में समर्थ होती है। बुद्धिगत यह ज्ञान भी बुद्धि को स्वयं जड होने के कारण, बिना चेतन आत्मा के सम्पर्क के असम्भव है। जिस समय ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जड बुद्धि में पड़ता है उस समय अचेतन बुद्धि चेतनता के सम्पर्क से चञ्चल सी प्रतीत होने लगती है और विषयों से संयोग होने पर उनका ज्ञान करती है। बुद्धिगत यही चित्प्रतिबिम्ब चिदाभास कहलाता है। यही जीव है जो बुद्धिगत सुखदु:खों को भोगता है। जीव का बुद्धि से विच्छेद मोक्ष के पश्चात् ही सम्भव होता है। प्रस्तरादि में चेतनता तो होती है[2] परन्तु बुद्धि रूप माध्यम का अभाव होता है अतएव चैतन्यता की प्रतीति नहीं हो जाती है।

बुद्धि को गुहा रूप से कहा गया है[3]। इसी बुद्धि रूपी गुहा के भीतर

1- अत एतस्मादात्मनोऽन्यदार्तम्- कार्यं वा शरीरम्, करणात्मकं वालिङ्गम्। शा०भा०बृ०उ० 3/4/2 ;

2- सर्वं खल्विदं ब्रह्म। सच्चिदानन्दं ब्रह्म।

3- निहितं स्थितं गुहायां हृदि सर्वप्राणिनां.... ।शा०भा०मु०उ०1/2/10
गुहांप्रविश्यतिष्ठन्तीम्......।शा०भा०क०उ० 2/1/7 .
क्व गुहायां बुद्धिलक्षणायाम्। शा०भा०मु०उ० 3/1/7 ;

प्रविष्ट जीव अपने कर्मों का फल भोगता है[1]। बुद्धि तत्व की वासस्थली हृदय ही है इसलिये कहीं कहीं जीवात्मा को हृदय में स्थित कहा गया है[2]। इसी बुद्धि के अधीन अन्य बाह्य इन्द्रियां हैं। बुद्धि को विज्ञानमयआत्मा अभिव्यक्तस्वात्म-चैतन्यप्रकाश रूप से व्याप्त कर लेता है। जिस प्रकार चन्द्रादि का प्रतिबिम्ब अपने आधार भूत जलादि का अनुवर्तन करने वाला होता है उसी प्रकार जीवात्मा बुद्धि रूप अपनी उपाधि का अनुवर्ती होता है[3]।

कठोपनिषद् में बुद्धि की तुलना एक सारथी से की गयी है जो मन तथा इन्द्रियों को वश में करके शरीर को चलाती है[4]।

बुद्धि का संयोग यावदात्मभावी है अर्थात् संसारी जीवात्मा आत्मसाक्षात्कार के द्वारा संसारित्व से मुक्त नहीं होता तब तक बुद्धि के साथ इसका सम्बन्ध बना रहता है। जब तक बुद्धिरूप उपाधि का सम्बन्ध है तब तक जीव में जीवत्व और संसारित्व बना रहता है। बुद्ध्युपाधि सम्बन्ध से अलग जीव

1- शरीरे गुहां गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ ...... ।शा0भा0कठ0उ01/3/1 ;

2- हृदि हृदयेण पुण्डरीकाकारमांस पिण्डपरिच्छिन्ने हृदयाकाशएण आत्मा-ऽऽत्मना संयुक्तो लिङ्गात्मा । शा0भा0प्रश्नो0 3/3/6 ·

स चात्मास्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहितः:... ..शा0भा0क0उ0 1/2/20

तत्र बुद्धेरन्तःकरणस्य हृदयं स्थानम्, तत्रस्थबुद्धितन्त्राणीतराणि बाह्यकरणानि· ...। शा0भा0बृ0उ0 2/1/19 ;

3- बुद्ध्युपाधिस्वभावानुविधायी हि सः, चन्द्रादिप्रतिबिम्ब इव जलाद्य-नुविधायी । वही 2/1/19 ;

4- बुद्धिं तु अध्यवसाय लक्षणां सारथिं विद्धि बुद्धिनेतृप्रधानत्वाच्छरीरस्य सारथिनेतृ प्रधानइव ......। शा0भा0कठ0उ0 1/3/3 ;

संज्ञक कोई वस्तु नहीं है[1]। बुद्धि में स्थित ज्योति:स्वरूप पुरूष बुद्धि-वृत्तियों के अनुसार ही व्यवहार करता है[2]।

बुद्धि एक स्वच्छ तत्व है जो आत्मा की समीपवर्तिनी होने के कारण आत्म-चैतन्य की प्रतिच्छाया से युक्त हो जाती है। इसी प्रकार मन, इन्द्रियों और शरीर के क्रमश: बुद्धि के सम्पर्क में आने से इनमें चैतन्यता-भासित होती है। इस तरह परम्परा द्वारा सम्पूर्ण देहेन्द्रिय संघात की आत्मा चैतन्य रूप प्रकाश से चैतन्यता प्रदान करता है। अतएव आत्मा के अनुग्रह के बिना यह देहेन्द्रिय संघात व्यवहार में समर्थ नहीं है।

लोकान्तरगमन होने पर भी वही बुद्धि जीव के साथ रहती है। वस्तुत: यह आत्मा न तो चलता है और न ध्यान ही करता है परन्तु बुद्धि के ध्यानस्थ होने पर ध्यान करता सा प्रतीत होता है और चलने पर चलता हुआ प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त जड होने के कारण बुद्धि को भीआत्मा की चैतन्यता की अपेक्षा रहती है। दोनों के संयोग से समस्त लोकव्यवहार चलते हैं। आत्मा का बुद्धिरूप उपाधि के साथ सम्बन्ध मिथ्याज्ञान के कारण होता है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति तभी होगी जब यथार्थ ज्ञान से हृदय के अज्ञान के बन्धन

1- यावदात्मभावित्वाद्बुद्धिसंयोगस्य। यावदयमात्मा संसारी भवति, यावदस्य सम्यग्दर्शनेन संसारित्वं न निवर्तते तावदस्य बुद्धया संयोगो न शाम्यति। परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्धयुपाधि सम्बन्ध परिकल्पित-स्वरूपव्यतिरेकेणास्ति। शा0 भा0ब्र0सू0 2/3/30;

2- ध्यानव्यापारवतीं बुद्धिं स तत्स्थेन चित्स्वभावज्योतीरूपेणावभासयन्-तत्सदृशस्तत्समान: सन् ध्यायतीव -। शा0भा0बृ0उ0 4/3/7;

टूट जायेगी और समस्त संशय मिट जायेगी। समस्त कर्मक्षीण हो जायेगी[1]। इसलिये जब तक अज्ञान है तब तक आत्मा के साथ जन्मजन्मान्तर तक बुद्धिरूप उपाधि का सम्बन्ध बना रहेगा[2]।

आचार्य शङ्कर बुद्धि में प्रतिबिम्बित ब्रह्म को ही 'जीव' मानते हैं इस प्रतिबिम्ब को 'चिदाभास' भी कहते हैं। बुद्धि चूंकि त्रिगुणात्मिका तथा सत्वबहुला होती है, अतएव अत्यधिक स्वच्छ भी है जिसके परिणाम स्वरूप उसमें प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की क्षमता है। बुद्धि आत्मा की समीपवर्तिनी होने के कारण उसका प्रतिबिम्ब ग्रहण करती है। इसलिये वह आत्मा की प्रतिच्छाया से युक्त हो जाती है। यही कारण है कि आत्माभिमान सर्वप्रथम उसी में होता है। बुद्धि के पश्चात् मन में चेतनता आती है फलत: इन्द्रियों और शरीर में भी चेतनता का प्रसार हो जाता है।

1- भिद्यते हृदयग्रन्थिरविद्यावासनाप्रचयो बुद्ध्याश्रय: काम:...। अस्य विच्छिन्नसंशयस्य निवृत्ताविद्यस्य यानि विज्ञानोत्पत्ते: प्राक्तनानि जन्मान्तरे चाप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्ति सहभावीनि च क्षीयन्ते कर्माणि।.... तस्मिन्परावरेसाक्षादहमस्मीति दृष्टे संसारकारणोच्छेदान्मुच्यते।

शा0भा0मु0उ0 2/2/8 ;

2- यावद्ब्रह्मात्मतानवबोधस्तावदयं बुद्ध्युपाधिसम्बन्धो न शाम्यति।

शा0भा0ब्र0सू0 2/3/30 ;

कर्तृत्व भोक्तृत्व :-- आचार्य शङ्कर पारमार्थिक जगत् में जीव और ब्रह्म का ऐक्य भले ही मानते हों पर व्यवहारकाल में दोनों के मध्य भेद उन्हें भी स्वीकार हैं। बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य बुद्धि और इन्द्रियादि उपाधियों से मुक्त होकर तद्गत सुखदु:ख को स्वयंगत समझता है, और संसार में विभिन्न कर्मों को करता है तथा उनके फलों को भोगता हुआ एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन करता है[1]। जिस काल में ब्रह्म बुद्धि और इन्द्रियादि उपाधियों से युक्त होकर 'जीव' संज्ञा को प्राप्त करता है, वही जीव का व्यवहार-काल कहलाता है। परमार्थ में भी जीव और ब्रह्म रूप की दो विभिन्न सत्ताएं स्वीकार करने पर सबसे बड़ी अनुपपत्ति यह होगी कि जीव का 'मोक्ष' ही सर्वथा असम्भव हो जायेगा।

अत: यह कहा जा सकता है कि त्रिकालाबाधित सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही माया के सम्पर्क में आने पर स्वरूप को भूल जाता है अर्थात् जीव संज्ञा को प्राप्त करता है। जिसके फलस्वरूप तद्गत सुखदु:खादि को स्वयंगत समझने लगता है। संसार में विभिन्न कर्मों को करने वाला और उन कर्मफलों को भोगने वाला भी जीव स्वयं को ही समझने लगता है जबकि स्थिति इससे अत्यन्त भिन्न है। जीवात्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व असम्भव है क्योंकि वस्तुत: तो वह शुद्ध ब्रह्म ही है[2]।

1- देहेन्द्रियादिगहने प्रविष्टो संसारी सन् देहेन्द्रियादि संसारधर्ममनुवर्तते देहेन्द्रिसंघातोऽस्मि कृश:स्थूल:सुखी दुखी' इति परमात्मतामजानन्नात्मन:।
शा०भा० बृ०उ० 2/1/20 ;

2- न स्वाभाविकं कर्तृत्वमात्मानं संभवति, अनिर्मोक्ष· · ·।
शा०भा० 2/1/13 ;
न कश्चिज्जायते जीव: कर्ता भोक्ता च नोत्पद्यते केनचिदपिप्रकारेण।
शा०भा०मा०उ० 3/48 ;

मोक्ष - पर्यन्त इसी प्रकार वह जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करता है । कठोपनिषद् में शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त {जीव} को ही 'भोक्ता' कहा गया है[1]।

आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र के कर्त्रधिकरण में {2/3/33 से 2/3/39} जीवात्मा को ही कर्ता स्वीकार किया है[2]। जीवात्मा को कर्ता मानने से ही शास्त्रों की सार्थकता सिद्ध होती है 'तक्षाधिकरण' में आचार्य कहते हैं कि आत्मा बुद्ध्यादि करणों {उपाधियों} की अपेक्षा करने पर ही संसारी कर्ता, भोक्ता बन जाता और उनकी अपेक्षा न करने पर अर्थात् उनमें आत्मभाव न रखने पर स्वरूपत: अकर्ता एवं परमानन्दस्वरूप ही होता है । अग्नि में उष्णता के सदृश आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व तो असम्भव है अन्यथा जीव के 'मोक्ष' प्राप्ति की सम्भावना समाप्त हो जायेगी । कर्तृत्व और भोक्तृत्व अविद्या से प्रत्युपस्थापित हैं अतएव दु:खरूप हैं । जीवात्मा इस द्वैतप्रपञ्च से सम्बद्ध होकर स्वप्न और जागरित अवस्थाओं में भ्रमण करता हुआ अत्यन्त थक जाता है तब उस श्रम को दूर करने के लिये कुछ समय के लिये सुषुप्ति अवस्था में पहुँचकर करण - संघात से मुक्त हो जाता है तथा जागने पर उस सुख का अनुभव करता है । यह तो क्षणिक सुख ही

1- आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं शरीरेन्द्रियमनोभि: सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्ता इति संसारी· · · · ·।शा0भा0क0उ0 1/3/4 ·

2- कर्ता चायं जीव: स्यात्··· शास्त्रार्थवत्त्वात् ।शा0भा0ब्र0सू02/3/33·
एतश्च जीवस्य कर्तृत्वं, यज्जीवप्रक्रियायां संध्येस्थाने विहारमुपदिशति ।
वही 2/3/34 ·
इतश्च जीवस्य कर्तृत्वं, यज्जीवप्रक्रियामामेव करणानामुपादानं···।
वही 2/3/35 ;

होता है परन्तु अविद्या नष्ट होने पर सदा सर्वदा के लिये जीव सुखरूप हो जाता है[1]।

जीव अविद्या के वशीभूत होकर ही कर्मों को करने वाला तथा स्वयं उनके फलों को भोगने वाला हो जाता है तथा फलोपभोग के निमित्त ही बारम्बार उसे इस संसार में आकर जन्ममरण रूप कष्ट को भी भोगना पड़ता है तथा नाना प्रकार के शरीरों की प्राप्ति उसे होती है । जीवों का शरीर निर्धारण उसके पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के आधार पर ही होता है[2]। जीव स्वयं को प्रेरयिता ईश्वर से पृथक् मानने के कारण ही इस संसार में भ्रमण करता है पुन: अभेद ज्ञान होने पर मुक्त हो जाता है[3]। यही आत्मा स्थूल और सूक्ष्म भोगों का 'भोक्ता' है । इस प्रकार शरीरइन्द्रिय रूप उपाधि से परिच्छिन्न, मोक्ष के निमित्त प्रयत्न करने वाले कर्मफल को भोगने के लिये जन्ममरण रूप चक्र में बारम्बार आने वाले आत्मा को 'रथी' शब्द से भी अभिहित किया गया है[4]। असंयत और अनियन्त्रित बुद्धि से युक्त जीवों को बारम्बार विविध योनियों में जन्म मिलता है ।

1- एवमविद्याप्रत्युपस्थापितद्वैतसम्पृक्त आत्मा स्वप्नजागरितावस्थयो: कर्ता दु:खी भवति, स तच्छ्रमापनुत्तये स्वमात्मानं परं ब्रह्म प्रविश्य विमुक्तकार्यकरणसंघातो कर्ता सुखी भवति सम्प्रसादावस्थायाम् । तथा मुक्त्यवस्थायामप्यविद्याध्वान्तं विद्याप्रदीपेन विधूयात्मैव केवलो निर्वृत: सुखी भवति । शा०भा०ब्र०सू० 2/3/40 ;

2- कृतस्य कर्मफलस्य स एवोपभोक्ता ।स विश्वरूपो नानारूप:····
प्राणस्य पञ्चवृत्तेरधिप: संचरतिस्वकर्मभि: ।शा०भा०श्वे०उ० 5/7·

3- यस्तु परमात्मनोऽन्यमात्मानं जानाति स बध्यत इति ।वही 1/6 ·

4- तत्र तमात्मानमृतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनंविद्धि ।शा०भा०क०उ० 1/3/3 ;

ब्रह्म ही बुद्ध्यादि उपाधियों के सम्पर्क में आकर उनमें अभिमान रखता हुआ ' कर्ताभोक्ता ' जीव कहलाता है[1]। यह कर्तृत्व भोक्तृत्व सत्त्व और क्षेत्रज्ञ के परस्पर स्वभाव के अविवेक से ही कल्पित है[2]। समस्त जगत् जीव के द्वारा ही उत्पन्न किया गया है अतः प्रत्येक जीव अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार सारे जगत् का भोक्ता और भोग्य है[3]। जीव संसार में जैसे कर्म करता है उसको उसी के अनुसार फल भी मिलता है अर्थात् किसी भी जीव का अगला जन्म क्या होगा ? अगले जन्म के भोग कैसे होंगे ? या कितनी आयु होगी यह सब उसके कर्मों के द्वारा ही निर्धारित होता है । इस प्रकार देव मनुष्य आदि की सृष्टि में और विषमता में तत् तत् जीवगत कर्म असाधारण कारण हैं ।[4]

मुण्डक तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् के भाष्य में आचार्य जीव को लिङ्ग उपाधि वाला कहकर उसके भोग के सम्बन्ध में बताते हैं कि वह कर्मों से

1- बुद्ध्यादि उपाधिकृतं तु विशेषमाश्रित्य ब्रह्मैव स जीवः कर्ता भोक्ता चेत्युच्यते ।

2- इदं हि कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरितरेतरस्वभावाविवेककृतं कल्प्यते । शा०भा०ब्र०सू० 1/2/12 ;

3- एवमेकैकः स्वकर्मविद्यानुरूप्येण सर्वस्य जगतो भोक्ता भोज्यं च ..... शा०भा०बृ०उ० 1/5/1 ,

4- देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति · ··· ·। शा०भा० ब्र०सू० 2/1/34 ;

उत्पन्न सुख-दु:ख रूप फल को खाता है (अनुभव करता है) जीव का फल-भोग अज्ञानवश ही होता है[1]। इस प्रकार भोक्ता जीव अज्ञानवश किये गये कर्मों के भार से लदा हुआ संसार-चक्र में आत्म-साक्षात्कार पर्यन्त भ्रमण करता रहता है। वह अपने शरीर और इन्द्रियों के प्रति आत्मभाव रखता है तथा बन्धु-बान्धवों के प्रति ममभाव रखता है जिससे शोक-संतप्त रहता है[2]। संसार के समस्त सम्बन्ध जीव के द्वारा ही बनाये हुए हैं इसीलिये इन सम्बन्धों में आत्म-भाव रखने पर वही दु:खी होता है तथा इनके प्रति तटस्थता का भाव रखने पर सुखी होता है।

अज्ञानी जीव हर प्रकार से अपने को हीन एवं असमर्थ समझता है तथा अज्ञान के संस्कार से युक्त होकर बारम्बार प्रेत-मनुष्य, पशु और पक्षी आदि योनियों में जन्म लेकर दु:ख भोगता है[3]। जीव को अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न लोकों में नाना प्रकार के रूपों की प्राप्ति होती है[4]। शरीर में निवास करने वाला[5] यह 'विज्ञानात्मा' जीव अपनी इन्द्रियों के माध्यम से ही समस्त

1- क्षेत्रज्ञो लिङ्गोपाधिवृक्षमाश्रित:पिप्पलं कर्मनिष्पन्नं सुखदु:खलक्षणं फलं स्वादनेक विचित्रवेदनास्वादरूपं स्वादत्ति भक्षयत्युपभुङ्क्ते विवेक्त: ।
शा0भा0मु0उ0 3/1, शा0भा0श्वे0उ04/6 ;

2- भोक्ताजीवो विद्याकामकर्मफल रागादिगुरुभाराक्रान्तोऽलाबुरिव सामुद्रे जले निमग्नो निश्चयेन देहात्मभावमापन्नोऽयमेवाहममुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता कृश: स्थूलो गुणवान्निर्गुण:सुखीदु:खीत्येवप्रत्ययो··सम्बन्धिबान्धवै: ।।
शा0भा0मु0उ0 3/2

3- स एव प्रेततिर्यङ्मनुष्यादियोनिष्वापतन्दु:खमापन्न:· ·।शा0भा0श्वे04/7

4- सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहै:शुभाशुभानि कर्माणि निष्पद्यन्ते ।तत:कर्मानुगानि कर्मानुसारीणि स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणान्यक्रमेण परिपाकापेक्षयादेही मर्त्य:स्थानेषु देवतिर्यङ्मनुष्यादिष्वभिसंप्रपद्यते । वही 5/11 ;

5- जीवस्तु शरीर एव भवति,तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र ।

विषयभोग करता है । ये इन्द्रियाँ स्वभावतः बहिर्गामिनी होती हैं,यही कारण है कि जीव अपनी हृदय रूपी गुहा में स्थित स्वयं (परमात्मा) की भी पहचान कर सकने में असमर्थ होता है । जीवात्मा देहाभिमानी होकर इस नौ द्वारों वाले शरीर में प्रवेश करता है इन्हीं द्वारों से इन्द्रियाँ बाहर निकलती हैं और तभी विषयों से इस जीव का सम्पर्क होता है । इस प्रकार जीवात्मा शरीर और इन्द्रियों के माध्यम से ही सांसारिक विषय- भोगों में प्रवृत्त होता है । तथा उसमें आसक्ति रखता है[1]। शरीर के नौ द्वारों (दो आँख, दो कान,दो नासिका छिद्र, ।मुख । गुदा और । उपस्थ) वाले शरीर में निवास करते समय परमात्मा 'जीव' नाम से ही अभिहित होता है । जीव 'मन' आदि ।। इन्द्रियों के वश में होकर उन्हीं के माध्यम से बाह्य विषयों को पकड़ने की चेष्टा करता है । इस प्रकार शरीरेन्द्रिय रूप उपाधि से परिच्छिन्न होकर जीव कर्ता, भोक्ता धर्म और अधर्म साधन वाला तथा सुखादि वाला है[2]।कठोपनिषद् के 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य' . . .(1/3/1) मन्त्र में कर्मफल को भोगने वाला,बुद्धि रूप गुहा में प्रविष्ट 'जीव' को ही कहा गया है ।

1- नवद्वारे शिरसि सप्तद्वाराणि द्वे अवाची पुरे देही विज्ञानात्मा भूत्वा कार्यकरणोपाधिः सन्हंसः परमात्मा इन्त्यविद्यात्मकं कार्यमिति,लेलायते चलति बहिर्विषयग्रहणाय । शा०भा०श्वे०उ० 3/18 ;

2- विशेषो हि भवति शारीरपरमेश्वरयोः ।एक कर्ता भोक्ता धर्माधर्मादि-साधनः,सुखदुःखादिमांश्च ।. . . .एतस्मादन्योर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य । शा०भा० ब्र०सू० 1/2/8 ;

सम्पूर्ण इन्द्रियों की कारण भूत मूल प्रकृति ही जीव को संसार के प्रति आकृष्ट करती है । यह प्रकृति त्रिगुणात्मिका {लोहित, शुक्ल, कृष्ण} होती है अर्थात् सात्त्विक, राजस् और तामस् गुण वाली । स्वयं अजा मूलप्रकृति अजन्मा जीव को इन्हीं तीनों गुणों के माध्यम से संसार के मोहपाश में बाँधती है । फलस्वरूप यह जीव अनादिकाल से चली आ रही अविद्या, काम और कर्मादि के बन्धन में बद्ध होकर प्रकृति के विषयों का भोग करता है[1]।

शरीररूपी वृक्ष पर घटाकाश और महाकाश के समान अथवा बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप से जीव और ईश्वर हैं । कर्मफलों के भोक्ता जीव और मात्र द्रष्टा ईश्वर या परमात्मा इन दोनों में ही , कर्तृत्व पारमार्थिक नहीं होता है । वस्तुतः कर्तृत्व और भोक्तृत्व सत्त्व {जीव} और क्षेत्रज्ञ {परमात्मा} के परस्पर स्वभाव के अविवेक से ही कल्पित है । परमार्थ में कर्तृत्व आदि न होने का कारण यह है कि बुद्धि {जिसमें ब्रह्म प्रतिबिम्बित होता है} अचेतन है और क्षेत्रज्ञ {ब्रह्म} कूटस्थ और विकार रहित होता है । अविद्या से प्रत्युपस्थापित {उत्पन्न} होने के कारण उसी के स्वभाव वाला कर्तृत्व और भोक्तृत्व जीव में वास्तव में सम्भव नहीं है[2]।

1- अजो ह्येको विज्ञानात्मानादिकामकर्मविनाशितः स्वयमात्मानं मन्यमानो जुषमाणः सेवमानोऽनुशेते भजते । शा0भा0श्वे04/5 ·

2- इदं हि कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च सत्त्वक्षेत्रज्ञयोरितरेतरस्वभावाविवेककृतं कल्प्यते । परमार्थतस्तु नान्यतरस्यापि सम्भवति, अचेतनत्वात्सत्त्वस्य, अविक्रियत्वाच्च क्षेत्रज्ञस्य । अविद्याप्रत्युपस्थापितस्वभावत्वाच्च सत्त्वस्य सुतरां न सम्भवति । शा0भा0ब्र0सू0 1/2/12 ;

" द्वा सुपर्णा . . . अभिचाकशीति " इस मन्त्र में यह शङ्का हो सकती है कि एक शरीर में दो द्रष्टा { जीव और ईश्वर } एक साथ कैसे रह सकते हैं ? इसके उत्तर में आचार्य शङ्कर यह कहते हैं कि जीव और अन्तर्यामी का भेद अविद्याजनित शरीर, इन्द्रिय रूप उपाधि की अपेक्षा से है । वस्तुत: तो एक प्रत्यगात्मा ही है क्योंकि दो प्रत्यगात्माओं का होना सम्भव नहीं है । वही ईश्वर जब शरीर से भी सूक्ष्म मन, बुद्धि आदि उपाधियों से उपहित होता है और तद्गत सुख, दु:खादि को स्वगत मानता है अर्थात् कर्मफल का भोग करता है तो उसकी संज्ञा ' जीव ' हो जाती है[1]। सूक्ष्म प्रत्येक शरीरभेदों में समाप्त होने वाला अर्थात् परिच्छिन्न है, चेतनावान् है तथा कर्ता और भोक्ता है[2]।

1- अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽयं शरीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिक: । एको हि प्रत्यगात्मा भवति, न द्वौ प्रत्यगात्मानौ सम्भवत: । शा0भा0ब्र0सू0 1/2/20 ;

2- प्रत्येकं च शरीरभेदेषु परिसमाप्तं चेतनावत्कर्तृभोक्तृ च .....।

शा0भा0ब्र0सू0 3/1/1 ;

जीवात्मा का कर्मफल का भोग संसार में होता है और उस भोग का अधिष्ठान शरीर बनता है । अद्वैतवेदान्त में जीव की तीन अवस्थाएं कही गयी हैं जिनके माध्यम से, क्रम से उन अवस्थाओं में आकर विषयभोग करता है । ये अवस्थाएं हैं :--

§1§ जाग्रत्

§2§ स्वप्न

§3§ सुषुप्ति

जाग्रत् :-- इसमें से स्वप्न और जागरित अवस्थाओं में वृत्तियाँ दर्शन रूप की होता है इस अवस्था में मात्र अज्ञान होने के कारण कोई ज्ञान नहीं होता । जागरितादि तीनों ही अवस्थाओं में जीव को पृथक् - पृथक् संज्ञाएं दी जाती है तथा पृथक् - पृथक् ही इनके भोग होते हैं । जागरित- अवस्था में भोग जीव को 'वैश्वानर' कहते हैं । इसमें भोक्ता के भोग का माध्यम उसका 'स्थूलशरीर' अर्थात् पञ्चभूतों से निर्मित 'भौतिक शरीर' ही बनता है । शिरआदि सात अङ्गो तथा इन्द्रियादि 19 मुखों से युक्त होकर जीव स्थूल और सूक्ष्म उपकरणों के माध्यम से स्थूल विषयों को भोगता है[1]। इस अवस्था में जीव की प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि आन्तरिक विषयों की ओर न होकर 'बाह्यविषयों' की ओर

1- स एवं विशिष्टो वैश्वानरो यथोक्तैर्द्वारैः शब्दादीन्स्थूलान्विषया-न्भुङ्क्त इति स्थूलभुक् । शा0भा0मा0उ0 म0 3 ;

होती है । अत: इसे ' बहिष्प्रज्ञ ' कहते हैं अर्थात् जिसकी अविद्याकृत बुद्धि बाह्य विषयों से सम्बद्ध - सी भासती है[1]। स्थूल पदार्थों के भोक्ता और साक्षी ' विश्व ' की उपलब्धि का स्थान दक्षिण नेत्र है[2]। इसी दक्षिण नेत्र में स्थित पुरुष को ' इन्ध ' या ' इन्द्र ' कहते हैं । दीप्तिगुणयुक्त होने के कारण इस ' वैश्वानर ' को ' इन्ध ' कहते हैं ।[3]आदित्यान्तर्गत पुरुष और नेत्रों में स्थित साक्षी का एकत्व भी आचार्य मानते हैं । जाग्रत् काल में बुद्धि आदि इन्द्रियाँ प्रकाश स्वरूप आत्म ज्योति से चैतन्य को प्राप्त करके कर्म करती हैं ।जागरित काल में प्रमाता या जीव कार्य (शरीर) एवं करण (इन्द्रिय) दोनों का अभिमानी होता है[4]। इसी अवस्था में जीव को द्रष्टा,श्रोता,मन्ता स्प्रष्टा एवं बोद्धा आदि कहा जाता है । इसी प्रकार स्वप्न अवस्था में भी ये ही लक्षण जीवात्मा में प्रतीत होते हैं अतएव जागरित अवस्था का भी मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है[5]।

1- बहिष्प्रज्ञ: स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य स बहिष्प्रज्ञो बहिर्विषयेव प्रज्ञाविद्याकृतावभासत इत्यर्थ: । शा0भा0मा0उ0 मन्त्र 3 ;

2- दक्षिणमक्ष्येव मुखं तस्मिन् प्राधान्येन द्रष्टा स्थूलानां विश्वोऽनुभूयते । वही 1/2 ;

3- इन्धो दीप्तिगुणो वैश्वानर: । वही 1/2 ·

4- जागरिते कार्यकरणाभिमानित्वेन प्रमातृत्वमिव भवति । वे0प्र0प्र0

5- कार्यकरण संघातोक्तोपाधि पूरणात् । स च जलसूर्यकादिप्रतिबिम्बस्य । सूर्यादिप्रवेशवज्जलाद्याधारशोषे परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते । प्र0उ0शा0भा 4/4/9 ;

स्वप्न :-

स्वप्नावस्था जीवात्मा की अभिव्यक्ति की द्वितीयअवस्था है। इस अवस्था में स्थूल {बाह्य} विषयों का अभाव तो होता ही है साथ ही साथ स्थूल शरीर का भी अभाव हो जाता है अर्थात् इस अवस्था में केवल सूक्ष्म विषयों का ही भोग जीव करता है और वह भी सूक्ष्म शरीर के माध्यम से। ये सूक्ष्म भोग इस प्रकार हैं कि जाग्रतकाल में बुद्धि मन के स्फुरणमात्र से बाह्य विषयों को अपने में चित्रित कर लेती है और वही मन स्वप्नावस्था में अविद्या, कामना और कर्म के कारण उन चित्रों को बाह्य विषयों के समान ही जीव के समक्ष प्रदर्शित करता है[1]। स्वप्न अवस्था में यह जीव 'तैजस' नाम से अभिहित होता है। अत्यधिक आन्तरिक इन्द्रिय होने के कारण मन की वासना के अनुरूप ही उस {जीव} की प्रज्ञा रहती है इसलिये इसे 'अन्त:प्रज्ञ' भी कहते हैं। 'विश्व' के बाह्यविषय युक्त होने के कारण जाग्रतकाल में उसकी भोज्य 'स्थूलप्रज्ञा' है किन्तु तैजस के लिये केवल वासनामात्र प्रज्ञा ही भोजनीया है इसलिये यह सूक्ष्म-भोग वाला है। यह भोक्ता सात अङ्गों एवं उन्नीस मुखों के द्वारा सूक्ष्मविषयों का भोग करता है। आचार्य शङ्कर कहते हैं कि विषय का दर्शन होना जाग्रतकाल में होता है और उसका स्मरण स्वप्नकाल में होता है इसलिये मन के अन्दर तैजस और विश्व दोनों एक ही हैं।[2]

1- जाग्रत्प्रज्ञानेक साधना बहिर्विषयेवावभासमाना मन:स्पन्दनमात्रासती तथाभूतं संस्कारं मनस्याधत्ते। तन्मनस्तथा संस्कृतं चित्रित इव पटो बाह्य-साधनानपेक्षमविद्याकामकर्मभि: प्रेर्यमाणं जाग्रद्वदवभासते। शा0भा0मा0उ0मन्त्र 4;

2- यथात्र तथा स्वप्ने। अतो मनस्यन्तस्तु तैजसोऽपिविश्व एव। वही

स्वप्नकाल में जीवात्मा स्थूल शरीर का नाश करके एक वासनामय या स्वप्न देह की रचना करता है जिससे 'आत्म कर्तृक' भी कहा जाता है[1]। स्वप्नावस्था में जीवात्मा शरीर को निश्चेष्ट (सुप्त) करके स्वयं जागता है और मन में संस्कार रूप से विद्यमान समस्त विषयों को प्रकाशित करता है । इस अवस्था में जीव का कार्य (शरीर) तो उपरम हो जाता है परन्तु करण (इन्द्रियों) से अत्यन्त विराम नहीं होता अर्थात् मन और बुद्धि अन्य इन्द्रियों के उपरत होने के पश्चात् भी विषयों से सम्बद्ध रहते हैं ।[2] इस अवस्था में जीव शरीर से बाहर चला जाता है तथा शरीर की रक्षा करने के लिये प्राण को छोड़ देता है ।यदि प्राण भी शरीर से चला जाये तो जीव के मरने की भ्रान्ति हो जायेगी यहाँ जीव शरीर से चले जाने का अभिप्राय यह नहीं है कि वह शरीर को छोड़कर अन्यत्र कहीं चला जाता है बल्कि शरीर में रहकर ही जाग्रत् काल की वृत्तियों को देखता है परन्तु शरीर से उस अवस्था में कोई सम्बन्ध न रहने के कारण ही 'शरीर से बाहर चला जाता है' ऐसा कहा जाता है[3]। जीव इस अवस्था में विषयसंस्पर्श से शून्य केवल वासना निर्मित वृत्तियों से विभिन्न लोक,परलोक, रथ और अश्वादि की रचना कर लेता है ।

1- वासनामयं स्वप्न देहं मायामयमिव,निर्माणमपि तत्कर्मापेक्षत्वात् स्वयं-कर्तृकमुच्यते । शा०भा० बृ०उ० 4/3/9 ;

2- न तावत्सध्ये स्थानेऽत्यन्तमात्मनः करणविरमणमस्ति,('सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति ।बृ०4/3/7) इति तत्रापि धीसम्बन्धश्रवणात् । तथा च स्मरन्ति(इन्द्रियाणामुपरमे मनो नुपरतं यदि।सेवते विषयानेव तद्विद्यात्स्वप्नदर्शनम् इति)तस्मात्समाना एव स्वप्नेविहरति ।
शा०भा०ब्र०सू०2/3/40 ;
इन्द्रियोपरमात्,उपरतेषु हीन्द्रियेषु स्वप्नान् पश्यति·· ··।

3- तथा प्राणेन पञ्चवृत्तिना रक्षन् परिपालयन् अन्यथाःमृत भ्रान्तिःस्यात् · कुलायम् स्वयं तु बहिस्तस्मात् कुलायात्,चरित्वा-यद्यपि शरीरस्थ एवस्वप्नं पश्यति तथापि तत्सम्बन्धाभावात् तत्स्थ इव आकाशे बहिश्चरित्वेत्युच्यते ।

जबकि इस अवस्था में न रथ हैं न अश्व हैं और न ही मार्ग हैं । इस विषय में आचार्य शङ्कर का कथन है कि एक ही ब्रह्म में स्वरूपनाश हुए बिना अनेक प्रकार की सृष्टि जिस प्रकार से हो जाती हैं ठीक उसी प्रकार स्वप्नअवस्था में स्वप्नद्रष्टा ' एक आत्मा में भी स्वरूप नाश हुए बिना विभिन्न प्रकार की रथ, अश्व आदि की सृष्टि होती है । लोक में भी मायावी आदि के द्वारा स्वरूपनाश के बिना ही हाथी, घोड़े आदि की विचित्रसृष्टि दृष्टिगत होती हैं ।[1]

यह जीवात्मा स्वप्नावस्था में भोगों को भोग कर पुन: जागरित-अवस्था में लौट आता है[2]। जागरितकाल में भोगों को भोग कर फिर स्वप्नस्थान को लौट जाता है । इस प्रकार एक अवस्था से दूसरी अवस्था में आना जाना इन भोगों के प्रति आत्मा की असङ्गता को प्रदर्शित करता है[3] अर्थात् जागरित काल के भोगों से वह स्वप्नकाल में तृप्त नहीं हो सकता है और स्वप्नकाल के भोगों से जागरित काल में संतुष्ट नहीं हो सकता है । इसके अतिरिक्त जाग्रत् काल में जीव जिन-जिन कार्यों को कर सकने में अपने को सर्वथा असमर्थ पाता है उन - उन कार्यों को वह स्वप्नअवस्था में करके अपनी इच्छापूर्ति करता है । स्वप्न और जागरित दोनों ही अवस्थाओं में आत्मा की अनुभूति स्पष्टत: होती है परन्तु यह आत्माकिसी भी अवस्था के भोगों से संस्पृष्ट नहीं होता है ।

1- यतआत्मन्यप्येकस्मिन्स्वप्नदृशि ...... ।
स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टि:....लोकेऽपि देवादिषु
मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादिसृष्टयो दृश्यन्ते।
शा०भा०ब्र०सू० 2/1/28 ;

2- स्वप्ने रत्वा चरित्वा यथाकार्मम् दृष्ट्वा एव पुण्यं च पापं च. .. .
जागरितस्थानाय । शा०भा०बृ०उ० 4/3/16 ;

3- जागरिते रत्वा चरित्वा च स्वप्नान्तमागत: ।न जागरितदोषेणानुगतो भवति । वही 4/3/17 ;

सुषुप्ति :-- आत्मा की अभिव्यक्ति की तृतीय अवस्था को 'सुषुप्ति' कहते हैं। इस अवस्था के अभिमानी जीव को 'प्राज्ञ' कहते हैं। इस अवस्था में 'आनन्दमय कोश' से अवच्छिन्न होने के कारण जीव की उपाधि मात्र अज्ञान ही बनता है। सुषुप्ति में जाग्रत् आदि दोनों ही अवस्थाओं का लय हो जाता है। इस काल में जीव न तो स्वप्न ही देखता है और न किसी भी प्रकार की इच्छा या कामना ही उसे रहती है[1]। इस अवस्था में मात्र अज्ञान होने के कारण जीव अनुभव शून्य होता है। जो आनन्दानुभूति जीव को सुषुप्ति काल में होती है उसका ज्ञान भी उसे सो कर उठ जाने पर ही होता है। समस्त द्वैतप्रपञ्च कारण भूत अज्ञान से आच्छादित हो जाता है अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न रूप मन के स्फुरण घनीभूत से हो जाते हैं, अतएव अविवेकरूपा यह अवस्था 'प्रज्ञानघन'[2] कही जाती है। अन्य किसी भी प्रकार का ज्ञान न होने के कारण तथा मन के स्फुरण से प्राप्त दुःख का अभाव होने के कारण ही इस अवस्था में जीव को 'आनन्दभुक्' कहा जाता है[3]। स्वप्नादि अवस्था की चेतना के प्रति द्वार -

---

1- यस्मिन्काले सुप्तो न कञ्चन स्वप्नं पश्यति न कञ्चन कामं कामयते। शा०भा०मा०उ०म० 5 ;

2- सेयमवस्थाविवेकरूपत्वात्प्रज्ञानघ्यन उच्यते। वही म० 5 ;

3- इयं स्थितिरनेनानुभूयत इत्यानन्दभुक् ....। वही म०5 ;

स्वरूप होने के कारण 'चेतोमुख' तथा सम्पूर्ण विषयों का ज्ञाता होने के कारण 'प्राज्ञ' कहलाता है । आचार्य शङ्कर का यह कथन है कि सुषुप्ति की अवस्था में जीव बाह्य छल- प्रपञ्चों से परे एक ऐसी स्थिति में रहता है जहाँ वह स्वरूप के अधिक निकट होने पर भी अपने को पहचान नहीं पाता । इस समय आनन्द का आधिक्य रहता है क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप ही सच्चिदानन्द है परन्तु इस - अवस्था में अज्ञानमात्र रहने के कारण उसकी अनुभूति तत्काल न होकर जागने पर इस रूप में होती है कि 'मैं बहुत सुख पूर्वक सोया'। स्वरूप से सम्पन्न होने के कारण जीव को 'स्वपिति' कहते है अर्थात् वह आत्मा को प्राप्त करता है[1]। तात्पर्य यह है कि लिङ्गोपाधि के सम्बन्ध से होने वाले अपने विशेष स्वरूप को अर्थात् जाग्रत्-काल के स्वरूप को त्याग कर अपने स्वाभाविक रूप में आ जाता है[2]। ब्रह्मवेत्ता लोग सुषुप्तिकाल को छोड़कर अन्य किसी भी दशा में जीव की स्वरूपप्राप्ति स्वीकार नहीं करते हैं । सुषुप्ति अवस्था में मन आदि की निवृत्ति हो जाने पर चैतन्य के प्रतिबिम्ब रूप से वह मन संज्ञक जीव रूपता को त्यागकर स्वरूप को प्राप्त हो जाता है[3]। यह जीव इस समय इन्द्रियों की अध्यक्षता भी छोड़ देता है[4]।

1- तदा हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम· · · ।स्वमेवात्मानमपीत्यपिगच्छति इति स्वपितीत्युच्यते । शा०भा०बृ०उ० 2/1/17 ;

2- लिङ्गोपाधिसम्बन्धकृतं विशेषात्मस्वरूपमुत्सृज्य अविशेषे स्वाभाविके आत्मन्येव केवले वर्तते इत्यभिप्रायः । वही 2/1/17 ;

3- मनआद्युपरमे चैतन्यप्रतिबिम्बरूपेण जीवेनात्मना मनसि प्रविष्टा नामरूप-व्याकरणाय परा देवता सा स्वमेवात्मानं प्रतिपद्यते जीवरूपतां मनआख्यां हित्वा । शा०भा०छा०उ० 6/8/1 ;

4- स तच्छ्रमापनुत्यै स्वमात्मानं परं ब्रह्म प्रविश्यविमुक्तकार्यकरण-सङ्घातोऽकर्ता सुखी भवति सम्प्रसादावस्थायाम् । शा०भा०ब्र०सू०2/3/40

जीवात्मा जाग्रत्काल में विषयों से तथा स्वप्नकाल में उनविषयों की वृत्तियों से संयुक्त होकर इतना अधिक भ्रान्त हो जाता है कि अपनी श्रमनिवृत्ति के लिये प्रतिदिन उसे 'सुषुप्तिअवस्था' में जाना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है[1]। जीवात्मा का श्रमनिवृत्ति के लिये सुषुप्ति में गमनरूप 'स्वरूपप्राप्ति' क्षणिक ही होती है सार्वकालिक नहीं । सार्वकालिक निवृत्ति अर्थात् मुक्ति तो स्वरूपज्ञान से होती है । मुक्तात्मा का आनन्द तो पूर्ण होता है जबकि जीवात्मा का आंशिक ही, यद्यपि स्वरूप में दोनों ही स्थित होते हैं । इस काल में जीव को पूर्ण आनन्द इसलिये नहीं मिल पाता क्योंकि सुषुप्ति जीव का अव्याकृत माया के अंशभूत कारण शरीर से सम्बन्ध बना रहता है अर्थात् स्वरूप दर्शन में अज्ञान बाधक बनता है ।

जीव सुषुप्तिकाल में सम्प्रसाद को प्राप्त करके असङ्ग हो जाता है ऐसा आचार्य कहते हैं ।[2] यद्यपि 'असङ्ग' शब्द आत्मा के लिये प्रयोग किया जाता है परन्तु आचार्य यहाँ जीव के लिये प्रयोग कर रहे हैं इसका कारण यह है कि इस अवस्था में चित्त का लय हो जाने से जीव को किसी प्रकार की चिन्ताओं और क्लेशों बोध नहीं होता है जिससे प्रसन्नता रहती है और वह भी अनुभूत नहीं होती हैं अतएव उसे 'असङ्ग कहा गया है ।

1- तच्छ्रमापनुत्त्यै स्वात्मनो नीडमायतनं सर्वसंसार धर्मविलक्षणंसर्वक्रियाकारकफलाय सशून्यं स्वमात्मानं प्रविशति । शा०भा०बृ०उ०4/3/19 ;

2- सुषुप्ते पुनः सम्प्रसन्नो सङ्गो भवतीत्युपसङ्गतापि दृश्यते ।
शा०भा०बृ०उ० 4/3/18 ;

बृहदारण्यक और माण्डूक्योपनिषद् में आये ' न क चनकामंकामयते... ....।' इस मन्त्र के भाष्य में आचार्य ने जाग्रत् और स्वप्नकाल के समस्त भोगों का प्रतिषेध किया गया है, ऐसा दिखाया गया है क्योंकि जागरित में जो कुछ भी देखा जाता है उसे भी श्रुतियों में स्वप्न ही कहा गया है ।जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में पुण्य और पाप के कारण होने वाले सुख और दु:ख आदि का अनुभव करते हुए जीव की समस्त इन्द्रियाँ थक जाती हैं परन्तु प्राण कभी नहीं थकता । अत: हम देखते हैं कि जाग्रत् , स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों ही अवस्थाओं में प्राणवायु ﴾ साँस ﴿ चलती रहती है । सभी इन्द्रियाँ प्राण में ही लीन हो जाती हैं । तत्पश्चात् जीव श्रमनिवृत्ति के लिये स्वाभाविक देवतास्वरूप को प्राप्त हो जाता है क्योंकि उसकी श्रमनिवृत्ति अन्यत्र कहीं हो भी नहीं सकती है[1]।

एक लौकिक दृष्टान्त के अनुसार जिस प्रकार डोरी में बन्धन-युक्त पक्षी बन्धनमुक्त होने के लिये अनेकों दिशाओं में उड़ान भरता है,परन्तु अन्यत्र आश्रय न पाकर पुन: उसी बन्धन में लौट आता है ठीक उसी प्रकार मनसंज्ञक उपाधिवाला यह जीवात्मा जाग्रत् और स्वप्न में सुखदु:खादि रूप अन्य दिशाओं में भ्रमण करता है परन्तु विश्राम-स्थली को अन्यत्र कहीं न पाकर सुषुप्ति में ही

1- प्राणएको श्रान्तो देहे कुलाये यो जागर्ति,तदा जीव: श्रमापनुत्ये स्वं देवतारूपमात्मानं प्रतिपद्यते । नान्यत्र स्वरूपावस्थानाच्छ्रमापनोद: स्यात् । शा०भा०छा० उ० 6/8/ । ;

अपना श्रमनिवारण करता है[1]। सुषुप्ति तथा मुक्ति दोनों में ही जीव कामना, पाप, पुण्य और भय आदि से रहित होता है परन्तु सुषुप्ति की अकामता आदि क्षणिक होती है और उसे पुन: उसी शरीर में जाग कर उठना होता है क्योंकि समस्त कामनाओं की मूल अविद्या का नाश नहीं हुआ रहता तथा मुक्ति की अवस्था में मूल कारण अविद्या के नष्ट हो जाने के कारण जीव ब्रह्म ही हो जाता है जो सभी अवस्थाओं से परे है । सुषुप्ति में यद्यपि जीव 'सत्' से सम्पन्न कहा जाता है फिर भी सुषुप्ति अवस्था से परिच्छन्न होने के कारण वह अद्वितीय एवं सर्वात्मा नहीं हो सकता है । उसको तो कुछ भी भान नहीं होता है तो सर्वात्मभाव का भान कैसे होगा और फिर मोह या अविद्या का आवरण दूर हुए बिना बोध नहीं होता है तथा बोध हो जाने पर आवरण का नाश तत्क्षण हो जाता है । सुषुप्ति अवस्था से जीव पुन: स्वप्न में और तत्पश्चात् जाग्रत् अवस्था में आ जाता है ।

यहाँ यह शंका उठनी स्वाभाविक है कि इस अवस्था में जबकि जीव का जीवत्व भी नष्ट नहीं हुआ रहता है तो उसे जाग्रत् और स्वप्न अवस्था की भाँति 'मैं यह हूँ' ऐसा अनुभव क्यों नहीं होता है इसके समाधान में आचार्य का कहना है कि सुषुप्ति काल में अन्यत्व को बताने वाले अविद्या रूप हेतु का अभाव हो जाता है[2] 'अभाव' का अर्थ यहाँ अत्यन्ताभाव से नहीं लिया जाना चाहिए

1- शकुनिघातकस्य हस्तगतेन सूत्रेण प्रबद्ध:परिश्रान्तो दिशं-दिशं बन्धनमोक्षार्थी सप्रतिदिशं पतित्वाऽन्यत्र बन्धनादायतनमाश्रयं विश्रमणायालब्ध्वाप्राप्य बन्धनमेवोपश्रयते ।एवमेव यथायं दृष्टान्त:-मनआख्योपाधिर्जीवो विद्या-कामकर्मोपदिष्टो दिशंदिशं सुखदु:खादि लक्षणांजाग्रत्स्वप्नयो:पतित्वा-गत्वानुभूयेत्यर्थ:अन्यत्र सदाख्यात्स्वात्मन आयतनं विश्रमणस्थानमलब्ध्वा-प्राणमेव •• •• ।शा०भा०छा०उ०6/8/2 •

2- तस्यात्मैव अन्यत्वप्रत्युपस्थापकहेतोरविद्याया अभावात्•• ••।
शा०भा०बृ०उ० 4/3/21 ;

वरन् ' भान न होना ' लिया जाना चाहिए क्योंकि अव्याकृत माया या अविद्या से जीव का सम्पर्क तो आत्मज्ञान-पर्यन्त बना रहता है । भान इसलिये नहीं होता है कि उस समय समस्त इन्द्रियाँ चित्त में लीन रहती है और चित्त अपने कारण अज्ञान में लीन रहता है । अत्यन्ताभाव मानने पर तो मुक्त और सुषुप्त पुरुष में अभेद हो जायेगा ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्य में अनेक स्थलों में सुषुप्ति के दृष्टान्त से मुक्त पुरुष के स्वरूप का कुछ - कुछ आभास दिया है । सुषुप्त और मुक्त पुरुष की स्थिति आंशिकरूप से एक सी होने के कारण भी उन्हें एक समझना भ्रामक है, दोनों के लिये ' सत् से सम्पन्न '[1] 'सम्प्रसाद से युक्त '[2], ' स्वपिति '[3] और असङ्ग[4] शब्द प्रयोग किये जाते हैं परन्तु दोनों में महान् अन्तर है । मुक्त पुरुष का तीनों अवस्थाओं और तीनों (स्थूल, सूक्ष्म-कारण) शरीरों से सम्बन्ध सदा के लिये टूट जाता है उसके सभी मायिक बन्धनों का अत्यन्ताभाव हो जाता है । यद्यपि जीवन्मुक्त पुरुष दूसरों की दृष्टि में वैसा ही व्यवहार करता है तथा सांसारिक प्राणी प्रतीत होता रहता है पर स्वयं किसी व्यवहार में उसकी आसक्ति नहीं रहती है । इसके विपरीत सुषुप्ति एक अवस्था है जो स्वयं में बन्धन है इसका दृष्टान्त इसलिये दिया जाता

1- तदातस्मिन्काले सता सच्छब्दवाच्या प्रकृतया देवतयासम्पन्नोभवति· · · ·
शा०भा० उ० 6/
2- सम्यक् प्रसीदत्यस्मिन्निति सम्प्रसाद:· · · · ।शा०भा०बृ०उ०4/3/15
3- स्वमेवात्मानमपीत्यपिगच्छतीति स्वपितीत्युच्यते । वही 2/1/17 ·
4- सुषुप्ते पुन: सम्प्रसन्नोऽसङ्गो भवति · · · · । वही 4/3/18 ;

है क्योंकि मुक्तात्मा की हर्षादि विकारों से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है जबकि सुषुप्त जीव के हर्षादि विकारों की क्षणिक निवृत्ति ही होती है ।

वस्तुत: मुक्त और सुषुप्त पुरुष में एकत्व हो ही नहीं सकता है क्योंकि मुक्त की पुनरावृत्ति संसार में नहीं होती है, जबकि सुषुप्त पुरुष का संसार में प्रत्यावर्तन होता है । जीव जागरित से स्वप्न को ,स्वप्न से सुषुप्ति को और सुषुप्ति से पुन: स्वप्न को तथा क्रमश: जागरित को और जागरित से पुन: स्वप्न को जाता है इस प्रकार एक ही जीव को तीन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में क्रमिक संचरण के द्वारा त्रिविध भोगों का भोक्ता बतलाया गया है[1]। यही उसकी जीवनचर्या का क्रम है । जागरित-अवस्था में वह अविद्यावश, ससङ्ग (आसक्ति युक्त) मृत्युयुक्त और कार्यकरणसंघात सहित देखा जाता है,किन्तु स्वप्न में कामनायुक्त तथा मृत्यु के रूपों से विनिर्मुक्त दिखायी देता है और फिर सुषुप्ति में सम्प्रसाद को प्राप्त करके असङ्ग हो जाता है ।सुषुप्ति और प्रलय में भी बुद्धि के साथ आत्मा का सम्बन्ध रहता है क्योंकि आकस्मिक उत्पत्ति किसी की भी नहीं होती और बुद्धि जाग्रत् और सृष्टिकाल में आविर्भूत होती है ।अतएव बुद्धिरूप उपाधि का सम्बन्ध यावदात्मभावी है[2]। सुषुप्ति में जीव - ब्रह्म एक हो जाता है[3]।

1- यस्माज्जागरितात् स्वप्नम्,स्वप्नाच्च सम्प्रसादम्,सम्प्रसादाच्च पुन: स्वप्नम्,क्रमेण बुद्धान्तं जागरितम्,बुद्धान्ताच्च पुन: स्वप्नान्तम् इत्येवमनुक्रमसचारेण स्थानत्रयस्य व्यतिरेक:साधित: । शा0भा0बृ0उ0 4/3/18 ;

2- यावदात्मभावी बुद्ध्याद्युपाधि सम्बन्ध इति । शा0भा0 ब्र0सू0 2/3/31 ;

3- सुषुप्तिकाले चपरेण ब्रह्मणा जीवएकतां गच्छति । परस्माच्च ब्रह्मण: प्राणादिकं जगज्जायत इति,वेदान्त मर्यादा । वही 1/4/18 ;

अद्वैतवेदान्तियों ने इन तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त जीव की एक ऐसी विलक्षण अवस्था का भी वर्णन किया है जिसे जीव की चतुर्थ अवस्था या 'तुरीय' अवस्था कहते हैं।[1] यह ऐसी अवस्था है जिसमें पहुँचकर जीव का सम्पूर्ण जगत्व्यवहार समाप्त हो जाता है। यह अवस्था 'मुक्ति' की कही जाती है क्योंकि इसमें जीव का जीवत्व समाप्त हो जाता है। जाग्रत् और स्वप्न अवस्था का अभिमानी होने पर जीव कारण (बीजावस्था) और कार्य (फलावस्था) से बद्ध रहता है। तृतीय अवस्था सुषुप्ति का अभिमानी प्राज्ञ केवल कारण से बद्ध रहता है परन्तु तुरीय अवस्था में इनमें से एक की भी बद्धता नहीं रहती है। बद्धता वहाँ रहती है जहाँ किसी वस्तु का अग्रहण अथवा अन्यथा ग्रहण होता है।[2] यह हर तरह से मुक्ति या ब्रह्मलय की अवस्था होती है।

1- चतुर्थं तुरीयं मन्यन्ते, प्रतीयमानपादत्रयरूपवैलक्षण्यात्। स आत्मा स विज्ञेय इति। शा०भा०मा०उ० मन्त्र 7;

2- बीजफलभावाभ्यां तौ यथोक्तौ विश्वतैजसौ बद्धौ संगृहीताविष्येते प्राज्ञस्तु बीजभावेनैवबद्धः। ... बीज फलभावौ तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणे तुर्ये न सिध्यतो न विद्येते न सम्भवत इत्यर्थः। वही शा०भा० मन्त्र 7;

परलोक गति :--
अविद्या के कारण ही जीव संसार में आने को बाध्य होता है तथा देहेन्द्रिय संघात को प्राप्त करके विपरीत ज्ञानों को प्राप्त करता हुआ कामना से युक्त होता है । कामनाओं से जीव के संकल्प होते हैं तथा संकल्प के अनुसार ही उसके कर्म होते हैं । कामनायुक्त अर्थात् आसक्तियुक्त होने पर ही कर्म पुण्य- पाप फल देने वाले होते हैं ।[1] विभिन्न प्रकार के कर्म करते हुए एवं उनके फल भोगते हुए जीव नाना प्रकार की योनियों में विचरण करता है । किये हुए कर्म का फल प्राप्त करने के लिये उसे संसार में आना ही होता है । कर्मफलभोग से उत्पन्न वासनाओं के कारण पुन: कर्म करने तथा फलभोग के लिये भी संसार में जीव का आगमन होता है, क्योंकि सभी कर्मों का फलभोग एक ही जन्म में तो हो नहीं जाता । एक जन्म के कर्म अनेक जन्मों तक फल देते हैं और कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है । अविद्याग्रस्त होने के कारण ही जीव बारम्बार नाना प्रकार की मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट और पतङ्गादि योनियों में जन्म लेकर स्वकृत कर्मफलों का भोग करता है ।

1- कामप्रयुक्तो हि पुरुष: पुण्यापुण्ये कर्मणी उपचिनोति ।
शा०भा० बृ० उ० 4/4/5 ;

तत्पश्चात् उसके पुनरावर्तन का क्रम प्रारम्भ होता है । इन कर्मियों के संसार में लौटने के विषय में यह आवश्यक नहीं है कि वे उसी मार्ग से ही लौटे जिससे गये हुये थे । उनके अवरोहण का मार्ग वह भी हो सकता है और उससे विपरीत (अन्य) मार्ग भी हो सकता है पर इतना निश्चित है कि वे पुन: लौटते अवश्य हैं और उनके साथ रहते है उन कर्मों के समुदाय जिन्हें 'अनुशय' या 'अवशिष्टकर्म' कहते हैं ।[1] इन अवशिष्ट कर्मों के प्रभाव से ही ये संसार में अवरोहण करते हैं ।[2] सकाम कर्मियों के चन्द्रलोक प्राप्ति के कारण भूत (इष्ट, पूर्त और दत्त) कर्मों का उपभोग समाप्त होते ही इन्हें संसार में आना पड़ता है अन्य कर्मों का फलभोग चन्द्रलोक में नहीं होता है अर्थात् जिन कर्मों के बल पर वह उस लोक में आरूढ होता हैं उन्हीं कर्मों का क्षय वहाँ होता है । अन्य शेष कर्मों के भोग के लिये जीव को अन्य योनियों में जन्म लेना पड़ता है[3]। इन अनुशयी जीवों में से उत्तम आचरण वाले जीव ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य योनि को प्राप्त करते हैं तथा अशुभ आचरण वाले कूकर, शूकर एवं चाण्डाल आदि निन्दनीय योनियों में जन्म लेते हैं ।

1- तस्मात्तिस्थत्वमेतदेवानुशयवन्तोऽवरोहन्तीति । ते चावरोहन्ति । यमेतमिति यथागतमित्यर्थ: । अनेवमिति तद्विपर्ययेणेत्यर्थ: ।
शा०भा०ब्र०सू० 3/1/8

2- तस्मात्तिस्थत्वमेतदेवानुशयवन्तो वरोहन्तीति । शा०भा०ब्र०सू० 3/1/8

3- इष्टापूर्तदत्तव्यतिरेकेणापि मनुष्यलोके शरीरोपभोगनिमित्तानि कर्माण्यनेकानि संभवन्ति, न च तेषां चन्द्रमण्डल उपभोग:, अतोऽक्षीणानि तानि । .....विरुद्धानेकयोन्युपभोगफलानां च .....। शा०भा० छा०उ० 5/10/5

इन कर्मियों का मोक्ष चन्द्रमण्डल में इसलिये सम्भव नहीं है क्योंकि वहाँ उन्हीं कर्मों का भोग होता है जिनके फलस्वरूप ये चन्द्रलोक गये थे। अन्य कई पूर्व जन्मों के कर्म तो फल देने के लिये बचे ही रहते हैं, और फिर एक ही जन्म में सभी कर्मों का फलभोग हो पाना भी असम्भव है। इसके अतिरिक्त कुछ कर्म जैसे 'ब्रह्महत्या' आदि को स्मृतियों में अनेक जन्मों का आरम्भक बताया है[1]। अर्थात् यदि किसी व्यक्ति ने 'ब्रह्महत्या' की है तो इस एक ही पाप के फलस्वरूप उसे कई जन्म लेने पड़ सकते हैं। अत्यन्त निकृष्ट स्थावर आदि योनियों को प्राप्त मूढ़ जीवों का उत्कर्ष तो 'एक ही जन्म में समस्त कर्म भुक्त हो जाते हैं' ऐसा मानने पर असम्भव हो जायेगा।

'इष्टादिकारी' चन्द्रमण्डल में आरोहण करते हैं और अनिष्टकारी जीव अपने किये हुए दुष्कर्मों के अनुसार यमलोक में आकर यम की यातना का दुःखरूप अनुभव करके पुनः इस मृत्यु लोक में कर्म करने तथा फलभोग करने आ जाता है[2]।

1- "श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम्। चण्डालपुल्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ।।" ब्रह्महत्यादीनां चैकैकस्य कर्मणोऽनेकजन्मनिमित्तत्वं • •• •। ब्र०सू०शा०भा० 3/1/8 ;

2- ते तु संयमनं यमालयमवगाह्य स्वदुष्कृतानुरूपा यामीर्यातना अनुभूय पुनरेवेमं लोकं प्रत्यवरोहन्ति। वही 3/1/13

सप्तनरका रौरवप्रमुखा दुष्कृतफलोपभोग भूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैः।
वही 3/1/15 ;

शुक्लगति :-- यह लोक 'हिरण्यगर्भ' नामक सगुण ब्रह्म का होता है। ब्रह्मलोक में पहुँचने वाले उपासकों की मुक्ति निश्चित हो जाती है। इन्हें संसार में पुन: आना नहीं पड़ता है[1]। अपने कर्मफलों को इसी लोक में ये उपासक सूक्ष्म शरीर के माध्यम से भोग करते हैं तथा अपने उपास्य हिरण्यगर्भ के साथ ही साथ मुक्तिलाभ करते हैं। इस मुक्ति को अद्वैतवेदान्त में 'क्रम-मुक्ति' के नाम से अभिहित किया जाता है। ब्रह्मलोक जाने वाले उपासक का निष्क्रमण ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी से होता है। यह नाड़ी मूर्धा की ओर को जाती है। इस नाड़ी से निष्क्रमण करने वाले विद्वान् की पुनरावृत्ति नहीं होती है और उसे अमरत्व की प्राप्ति हो जाती है[2]। अविद्वान् पुरुष देह के बीजरूप सूक्ष्मभूतों के विद्यमान रहने के कारण कर्म से संयुक्त होता है और बारम्बार देहग्रहण करके सुख दु:ख भोग के लिये संसार में आता है परन्तु विद्वान् पुरुष की मूर्द्धा सगुण ब्रह्म की उपासना करने के कारण ब्रह्मज्ञान से आलोकित हो जाती है तथा वहीं से इसका निष्क्रमण भी होता है[3]।

1- तेषां ब्रह्मलोकं गतानां नास्ति पुनरावृत्तिरस्मिन् संसारे··· ।शा0भा0बृ0उ0 6/2/15 ;
तत्र एकया शुक्लया याति अनावृत्तिम्· ····· ·। शा0भा0गीता 8/26,शा0भा0छा0उ04/15/5,;

2- तासामेका मूर्धानमभिनि:सृता विनिर्गता तयोर्ध्वमायन्गच्छन्नमृतत्वममृतभावमेति । शा0भा0छा0उ08/6/6 ;

3- अविद्वान्देहबीजभूतानि भूतसूक्ष्माण्याश्रित्यकर्मप्रयुक्तो देहग्रहणमनुभव संसरति,विद्वांस्तुज्ञानप्रकाशितं मोक्षनाडीद्वारमाश्रयते । शा0भा0ब्र0सू0 4/

ये उपासक देहपात के अनन्तर ब्रह्मलोक के अधिकारी होते हैं। ब्रह्मलोक में ये अनन्त संवत्सरपर्यन्त निवास करते हैं वहाँ ब्रह्मा के समान ही ऐश्वर्ययुक्त भोगों को भोगता है तथा जब कई कल्पों के पश्चात् इस ब्रह्म की मुक्ति होती है तथा इन उपासकों की भी मुक्ति होती है और साथ ही साथ ब्रह्मलोक नष्ट हो जाता है[1]। इन दो गतियों के अतिरिक्त तृतीय गति उन जीवों की होती है जिनके कर्म अत्यन्त बुरे होते हैं। इनकी स्थिति यह होती है कि ये जन्म लेते हैं और मृत्यु को प्राप्त करते हैं। ये क्षुद्र और बारम्बार संसार चक्र में पड़ने वाले प्राणी होते हैं, अर्थात् जो उपासना के द्वारा न तो शुक्लगति को प्राप्त करते हैं और न कर्म द्वारा कृष्णगति को ही प्राप्त करते हैं, उनको क्षुद्र जन्तु रूप, बारम्बार आवृत्तिरूप तृतीय गति मिलती है[2]।

मोक्ष :-

'मुक्ति' शब्द की निष्पत्ति मुच् (मोचनार्थक) धातु से क्तिन् प्रत्यय होने पर . . . . होती है जिसका अर्थ है 'निवृत्त होना'। आत्मबोध होने पर अध्यासजन्य मिथ्या बन्धन से छुटकारा पाने का नाम ही 'मुक्ति' है। आत्मा के अविद्यावश जीव कोटि में आने पर उसमें ममत्व-अहंत्व के अनेकानेक बन्धन उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके कारण जीव आत्मबोध में असमर्थ रहता है। जब इस बन्धन की मूलभूता अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तभी जीव 'मुक्त' कहा जाने लगता है।

1- ब्रह्मणो बहून् कल्पान् वसति । शा0भा0बृ0उ0 5/10/1 ;
2- ये न विद्यासाधनेन देवयाने पथ्यधिकृता:, नापि कर्मणा पितृयाणे तेषामेष क्षुद्रजन्तुलक्षणो सकृदावर्ती तृतीय:पन्था भवतीति ।
शा0भा0ब्र0सू0 3/1/17 .
जायस्वम्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं . . . .।
शा0भा0छा0उ0 5/10/8 ;

शङ्कराचार्य ने मुक्ति का स्वरूपनिर्धारित करते हुए कहा है कि ब्रह्मभाव ही मुक्ति या मोक्ष है[1] और चूँकि ब्रह्म पारमार्थिक, कूटस्थ, नित्य आकाश के समान सर्वव्यापी समस्त विक्रियाओं से रहित, नित्य तृप्त, निरवयव और स्वयप्रकाश स्वरूप है। इसलिये अशारीरी मोक्ष का स्वरूप भी यही मानना चाहिए। आचार्य का कथन है कि मोक्ष की स्थिति में धर्म और अधर्म अपने कार्य सुख-दुःख के साथ तीनों कालों में भी सम्बन्ध नहीं रखते इसी शरीररहित स्थिति को 'मोक्ष' कहा गया है[2]।

आचार्य शङ्कर क्रम-मुक्ति के साथ-साथ 'जीवन्मुक्ति' के भी समर्थक हैं। वे जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति में अन्तर स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार देह की उपस्थिति से मोक्ष की अवस्था में कोई अन्तर नहीं आता है जो परमार्थतः ऐसी स्थिति है जिसमें शरीरगत समस्त बन्धनों से निवृत्ति हो जाती है।

क्रममुक्ति :--

क्रममुक्ति का तात्पर्य है 'क्रमशः मुक्त होना' यह मुक्ति अपर ब्रह्म या हिरण्यगर्भ की उपासना से प्राप्त होती है यह मुक्ति उपासक को इस लोक से पहले ब्रह्मलोक में पहुँचाती है तत्पश्चात् वहाँ हिरण्यगर्भ के साथ ये मुक्त होते हैं। यह मुक्ति सगुण ब्रह्मोपासना के द्वारा ही सम्भव होती है इन उपासकों के उपास्य हिरण्यगर्भ की मुक्ति के साथ ही साथ इन उपासकों को भी मुक्ति लाभ प्राप्त होता है।

1-(क) ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था ..... । शा0भा0ब्र0सू0 3/4/52 ·
(ख) ब्रह्मभावश्च मोक्षः । वही 1/4/4 ;

2- इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रिया रहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं स्वयं ज्योतिःस्वभावम् । यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं चनोपावर्तेते । तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम् । वही 1/4/4 ;

आचार्य शङ्कर क्रममुक्ति के विषय में आगे कहते हैं । प्रश्नोपनिषद् के एक वाक्य पर भाष्य करते हुए ध्यान के विषय में आचार्य का कथन है कि जो उपासक तीन मात्रा वाले ओङ्कार स्वरूप आलम्बन से परमात्मा की उपासना करते हैं उनको भी ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है फिर क्रम से तत्वज्ञानरूप फल होता है[1]। ओङ्कार के अकार की उपासना से विश्व की प्राप्ति, उकार की उपासना से तैजस की तथा मकार से प्राज्ञ की प्राप्ति होती है । मकार का क्षय होने पर समस्त कर्मों की मूल {बीज} अविद्या का नाश होजाता है । इस प्रकार ओङ्कार की तीनों मात्राओं की उपासना करने वाले उपासक की कोई गति नहीं होती है वरन् उसकी मुक्ति हो जाती है ।

इससे भिन्न भी एक अन्य मुक्ति का मार्ग शङ्कर ने जीवों के लिये प्रतिपादित किया है वह है "जीवन्मुक्ति" । यह मुक्ति निर्गुण ब्रह्मज्ञान से इसी लोक में जीव को जीवन रहते ही प्राप्त हो जाती है । जीवन्मुक्तावस्था में ही जीव केवल प्रारब्ध कर्मों का भोग करने के लिये ही शरीर धारण किये रहता है और जैसे ही प्रारब्ध कर्म भोग समाप्त हो जाते हैं उस जीव का शरीरपात हो जाता है फिर शरीर धारण करने का कोई कारण नहीं बचता और वह जीव ' विदेहमुक्त ' कहा जाने लगता है ।

1- त्रिमात्रेणोङ्कारेणालम्बनेन परमात्मानमभिध्यायतः फलंब्रह्मलोकप्राप्तिः, क्रमेण च सम्यग्दर्शनोत्पत्तिरिति क्रममुक्तिः · ·· ··।
शा०भा०ब्र०सू० 1/3/13 ;

ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शङ्कर के द्वारा किये गये जीवन्मुक्ति के वर्णन में स्पष्ट ही कहा गया है कि यद्यपि ब्रह्मज्ञान होने पर जीव के समस्त (अश्लेष तथा पूर्व) पापों का क्षय हो जाता है[1] अर्थात् (संचित) जो कर्म किये जा चुके हैं और उनका फलोपभोग अवशिष्ट है परन्तु फल देने के लिये प्रवृत्त नहीं हुए हैं, वे तथा (क्रियमाण) जो आगे किये जाने वाले हैं इन दोनों प्रकार के कर्म ही ज्ञान से दग्ध होते हैं। तथा जो कर्मफल देने के लिये प्रवृत्त हो चुके है जिन्हें 'प्रारब्ध कर्म' की संज्ञा दी जाती है, उनका विनाश ज्ञान के द्वारा आचार्य ने स्वीकार नहीं किया है। ये कर्म भोग के लिये हैं अत: ये भोग किये बिना क्षीण नहीं होते हैं।[2]

इसी तथ्य पर पुन: विचार करते हुए शङ्कर कहते हैं कि पूर्वजन्म में संचित और ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व तक इस जन्म में संचय किये गये अप्रवृत्त फलवाले अच्छे तथा बुरे कर्मों का ही ज्ञान की प्राप्ति से क्षय होता है किन्तु आरब्ध कार्य अर्धभुक्त फल वाले जिन पुण्य पापों से (इस ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का स्थान) यह जन्म निर्मित हुआ है, वे कर्म क्षीण नहीं होते हैं।[3] इसका कारण वे यह

1- तदधिगमे ब्रह्माधिगमे सत्युत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशौ भवत्।
शा०भा०ब्र०सू०4/1/13 ;

2- न भोगादृते कर्म क्षीयते . . . . . । वही 4/1/15 ;

3- अप्रवृत्तफले एव पूर्वे जन्मान्तर संचिते, अस्मिन्नपि च जन्मनि प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः संचिते, सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात्क्षीयेते, नत्वारब्धकार्ये सामिभुक्तफले, याभ्यामेतद् ब्रह्मज्ञानायतनं जन्मनिर्मितम्। वही 4/1/15 ;

बताते हैं कि पात्र-निर्माण हो जाने के उपरान्त भी कुम्हार के चक्र का वेग किसी भी प्रकार से रोका नहीं जा सकता है और उसके वेग की प्रतीक्षा की जाती है वैसे ही अकर्तृ आत्मबोध भी मिथ्याज्ञान के बाध से कर्मों का उच्छेद करता है परन्तु बाधित हो जाने पर भी मिथ्याज्ञान दो चन्द्रज्ञान के समान संस्कार के बल से कुछ समय तक अनुवर्तित होता ही रहता है[1]। यही कारण है कि मोक्ष प्राप्ति के पश्चात् भी विद्वान को जीवन बना रहता है ।

इसके पश्चात् दूसरा कर्माशय नये उपभोग को आरम्भ नहीं कर सकता क्योंकि उसका बीज 'अविद्या' दग्ध हो चुकी है । अर्थात् मिथ्याज्ञान का अवलम्बन करने वाला कर्मान्तर देहपात होने पर अन्य उपभोग को आरम्भ करता है ।वह मिथ्याज्ञान सम्यज्ञान से दग्ध हो चुकने के कारण अन्य आरब्धक कर्म के अभाव में विद्वान् को कैवल्य की प्राप्ति होती है[2]।

आचार्य शङ्कर ने मूर्च्छित व्यक्ति के विषय में यह कहा है कि इसे हम जाग्रत्, स्वप्न,सुषुप्ति और उत्क्रान्ति से पृथक् पाँचवीं अवस्था नहीं स्वीकार कर सकते हैं और न इनमें से किसी एक को ही मूर्च्छा कह सकते हैं । मूर्च्छा में जीव अर्द्ध-सुषुप्ति की अवस्था में रहता हैं अर्थात् आधी सुषुप्ति की अवस्था तथा आधी अन्य अवस्था होती है[3]। आचार्य के अनुसार मूर्च्छा मरण

1- अकर्त्रात्मबोधोऽपि हि मिथ्याज्ञानबाधनेन कर्माण्युच्छिनत्ति । बाधितमपि तु मिथ्याज्ञानं द्विचन्द्रज्ञानवत्संस्कारवशात्कंचित्कालमनुवर्तत एव ।
शा0भा0ब्र0सू0 4/1/15 ;

2- मिथ्याज्ञानावष्टम्भं .... भवतीति । वही 4/1/19 ;

3- अर्धेनसुषुप्तपक्षस्य भवति मुग्धत्वमर्धेनावस्थान्तरपक्षस्येति ।
वही 3/2/10 ;

का द्वार है । मूर्च्छित होने पर यदि जीव के कर्म बचे रहते हैं तो उसकी चेतना, वाणी और मन अपने - अपने स्थानों को चले आते हैं और यदि प्रारब्ध कर्म समाप्त हो गये तो जीव के प्राण और शरीर की ऊष्मा चली जाती है तथा जीव को मृत समझ लिया जाता है[1]। चूंकि यह मूर्च्छा सदैव न रहकर किसी -किसी समय और किसी -किसी व्यक्ति की ही होती है इसलिये इसे एक पृथक् और पांचवी अवस्था न मानकर अर्ध संपत्ति ही स्वीकार किया जाना चाहिए[2]।

आचार्य शङ्कर ने मोक्ष का ' उत्पाद्य ' न मानकर बौद्धमत का निराकरण किया है । बौद्ध मतावलम्बियों के अनुसार आत्मा की विशुद्ध विज्ञान रूप से उत्पत्ति ही मोक्ष है । आचार्य ने मोक्ष को 'विकार्य ' न मानकर जैन मत का खण्डन किया है । इनके मत में संसार रूप अवस्था का त्याग कर कैवल्यावस्था की प्राप्ति ही मोक्ष है । इसके अतिरिक्त स्वआत्मस्वरूप होने के कारण ' प्राप्य ' भी नहीं है जबकि ब्रह्मज्ञान से ही उसकी प्राप्ति होती है ।

1- द्वारं चैतन्मरणस्य । यदाऽस्य सावशेषं कर्म भवति, तदा वाङ्मनसे प्रत्यागच्छतः । यदा तु निरवशेषं कर्म भवति, तदा प्राणोष्माणावपगच्छतः । शा0भा0ब्र0सू0 3/2/10 ;

2- कादाचित्कीयमवस्थेति . . . . । अर्धसंपत्त्यभ्युपगमाच्च न पञ्चमी गण्यते . ... । वही 3/2/10 ;

सर्वव्यापक होने के कारण ब्रह्म सभी को नित्यप्राप्त स्वरूप ही है । तथा मोक्ष को ' संस्कार्य ' भी नहीं कहा जा सकता जिससे किसी व्यापार की अपेक्षा करे । किसी भी वस्तु में विशेषगुण लाने के लिये या दोष दूर करने से ही उस पदार्थ विशेष का संस्कार होता है । परन्तु मोक्ष तो नित्य शुद्ध ब्रह्म स्वरूप है उसका गुणाधान और आधेयातिशय असम्भव है ।

मोक्ष के सम्बन्ध में शङ्कर का कथन है कि मोक्ष का अर्थ जगत् का तिरोभाव नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो सबसे प्रथम जब मोक्ष की प्राप्ति होती तो जगत् विलुप्त हो गया होता ।

षष्ठ अध्याय

आचार्य शङ्कर के परवर्ती आचार्यों के अनुसार जीव का स्वरूप

शङ्कराचार्य के परवर्ती आचार्यों के अनुसार जीव का स्वरूप :--

शाङ्कर-वेदान्त में एकमात्र अद्वय ब्रह्म ही सत् माना गया है अत: ब्रह्म से अतिरिक्त कोई भी पदार्थ सत् हो ही नहीं सकता, इसलिये जीव भी या तो ब्रह्म ही होकर सत् होगा या ब्रह्मभिन्न होकर असत् होगा । ब्रह्म होकर सत् होना जीव की ब्रह्म से पारमार्थिकअभिन्नता का द्योतक है और ब्रह्म से भिन्न रूप में प्रतीत होना उसकी मायामयता को प्रकट करता है ।निष्कर्ष रूप में जीव और ब्रह्म का पारमार्थिक अभेद तथा औपाधिक भेद स्वीकृत किया गया है । जीव और ब्रह्म के इस सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये शङ्कराचार्य ने भिन्न-भिन्न स्थलों पर अवच्छेद, प्रतिबिम्ब और आभास पदों का प्रयोग किया है । कहीं पर उन्होंने घटाकाश और महाकाश के दृष्टान्त से जीव और ब्रह्म के बीच में अवच्छेदवाद की स्थिति स्वीकृत की है, और कहीं बिम्ब और प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से जीव ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतिबिम्बवाद को समर्थन दिया है । इसी प्रकार कहीं पर जलसूर्यकादि दृष्टान्तों के माध्यम से आभासवाद को मुखर सम्मति प्रदान की है उनके अनुयायियों ने इन तीनों सिद्धान्तों में से किसी एक पर विशेष बल देकर या तो अवच्छेदवाद को स्वीकृत किया है या प्रतिबिम्बवाद और या आभासवाद को सिद्ध किया है । इन तीनों सिद्धान्तों के प्रमुख व्याख्याता या प्रतिष्ठापक अवच्छेदवादी, प्रतिबिम्बवादी और आभासवादी कहे गये हैं । वार्तिककार आचार्य सुरेश्वर ने ब्रह्म और जीव सम्बन्ध में आभासवाद को अपनाया । पञ्चपादिका विवरणकार प्रकाशात्मा, शारीरककार सर्वज्ञात्मा

ने प्रतिबिम्बवाद को प्रधानता दी है । इसी प्रकार भामतीकार वाचस्पतिमिश्र ने अवच्छेदवाद का प्रतिपादन किया है ।

परवर्ती अन्य अद्वैतवेदान्ती इन्हीं तीन प्रमुख धाराओं में से किसी एक को स्वीकृत करके ब्रह्म और जीव के पारस्परिक सम्बन्ध की अद्वैतानुकूल व्याख्या करते हैं । यद्यपि इन तीनों वादों में अत्यन्त सूक्ष्मभेद हैं फिर भी अविद्या से उपहित परमात्मा ही जीवात्मा कहा जाता है । वह वस्तुत: अविद्यया ग्रस्त नहीं होता है परन्तु अविद्या के विभिन्न गुणों से उपहित होने के कारण तद्वत् प्रतीत होता है । तीनों वादों में सामान्यरूप से यही कथन है । संक्षेप में वेदान्त प्रतिपादक वाक्यों को इस प्रकार कहा जा सकता है-(क) चैतन्य की शुद्धता ही पारमार्थिक सत्य है,(ख) संसार की ब्रह्म से भिन्न रूप में प्रतीति होने पर भी दोनों में वास्तविक एकता, (ग) दृष्टिगत जीव रूप की काल्पनिकता(घ) तथा इस कल्पना की मूल अविद्या या माया । वेदान्त-ग्रन्थों में कल्पना,आभासवाद,अवच्छेदवाद तथा प्रतिबिम्बवाद क्रमश: इन -इन दृष्टान्तों से प्रस्तुत किये जाते हैं व्याधराजपुत्र,जपाकुसुम,घटाकाश तथा सूर्य प्रतिबिम्बादि[1]।

चूँकि सुरेश्वर शङ्कराचार्य के शिष्य थे अतएव सर्वप्रथम उनके द्वारा प्रतिपादित आभासवाद का वर्णन करना अधिक सङ्गत होगा ।सुरेश्वराचार्य का कथन है कि जगत् जो कि व्यावहारिक सत्यों से परिपूर्ण है उसकी सत्ता भी उसी

1- सिद्धान्तबिन्दु: महामहोपध्याय वासुदेवशास्त्री पृ0 17 ;

प्रकार मिथ्या मानी जानी चाहिए जिस प्रकार मायामय या ऐन्द्रजालिक विषय आभासमात्र होने के कारण मिथ्या होते हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि मायिक विषयों का मिथ्यात्व व्यावहारिक जगत् में ही दृष्टिगत हो जाता है जबकि व्यावहारिक जगत् की सत्यता आत्मतत्त्व के ज्ञान द्वारा अविद्यानाश पर्यन्त रहती है क्योंकि यह संसार अज्ञान या अविद्या के कारण ही सत्य प्रतीत होता है। इसलिये जगत् की सत्यता आभासमात्र है वास्तविक नहीं।[1]

सुरेश्वरः— [800ई०]

आभासवाद :--

शारीरकभाष्य में प्रतिपादित 'अंशाधिकरण' के 'आभास एव च'[2] सूत्र से तथा छान्दोग्यउपनिषद् के भाष्य से[3] आभासवाद का प्रतिपादन होता है। जिस प्रकार जल में सूर्य आभासित होता है अथवा जैसे स्फटिक में जपाकुसुम की रक्तिमा भासती है उसी प्रकार बुद्धिरूपी अज्ञानोपाधि में चैतन्य {ब्रह्म} भासता है। यह चिदाभास ही 'जीव' शब्द से वाच्य है। इस प्रकार सुरेश्वर के अनुसार 'जीव' चैतन्य ब्रह्म या परमात्मा का आभासमात्र ही सिद्ध होता है तथा आभासरूप होने के कारण जीव मिथ्या है। यह न तो साक्षात् परमात्मा ही है और न परमात्मा से भिन्न ही है। चिदाभास अज्ञान रूप उपाधि का साक्षी है तथा जिस समय उपाधि जगत् के रूप में परिणमित होती

1- अद्वैतवेदान्त, डा० राममूर्ति शर्मा पृ० 167 ;

2- आभास एव चैष जीवः परमात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्यः।
ब्र०सू०शा०भा० 2/3/50 ;

3- जीवोहि नाम देवताया आभासमात्रम्। छा०उ०शा०भा०6/3/2 ;

होती है उस समय यही चिदाभास जगत् का कारण माना जाता है ।वस्तुत: उपाधियुक्त चिदात्मा अन्तर्यामी, साक्षी या जगत्कारण कुछ भी नहीं है परन्तु चिदाभास के साथ विवेकज्ञान न होने के कारण ही अन्तर्यामी आदि उपाधियों को प्राप्त करता है । यद्यपि {उपाधियुक्त} चिदात्मा तथा {उपाधि में स्थित} चिदाभास में अन्तर होने पर भी, चिदाभास का अज्ञानोपाधि के साथ तादात्म्य-भाव होने के कारण अन्तर या भेद प्रतीत नहीं होता है जिस प्रकार से स्फटिक में आभासित रक्तिमा स्फटिक से भिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत नहीं होती है । वार्तिककार के अनुसार जीव चेतन का आभास है । यह आभास किस रूप का होता है ? क्या यह आभास बिम्बप्रतिबिम्बरूप को होता है, क्योंकि आभास का अर्थ प्रतिबिम्ब होता है और फिर स्थिति में इस मत की पृथक् सत्ता ही नहीं रह जायेगी इस शङ्का के समाधान में आचार्य सुरेश्वर का कथन है कि यद्यपि ब्रह्म का जीवरूप में आभासित होना एक तरह से उसका प्रतिबिम्ब होना ही है परन्तु वह बिम्ब से भिन्न तथा मिथ्या होते हुए भी सत्य है , यह आभास मिथ्याभूत प्रातिभासिक सर्प की भाँति तथा रजत में शुक्ति की प्रतीति की भाँति अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होता है । दृष्टान्त के लिये कहा जा सकता है कि जैसे लोक में बिम्बभूत मुखादि की अपेक्षा दर्पणादि में दृश्यमान प्रतिबिम्बरूप मुख आदि बिम्ब के सदृश होते हुए भी बिम्ब से भिन्न तथा मिथ्या होते हैं वैसे ही आभास भूत जीव भी ब्रह्म से भिन्न तथा मिथ्या हैं । यह स्मरणीय है कि आभासवादि-यों का प्रतिबिम्ब, प्रतिबिम्बवादियों के द्वारा अभिमत प्रतिबिम्ब से इसलिये

अलग है कि प्रतिबिम्बवादियों का प्रतिबिम्ब मिथ्या नहीं माना जाता।

आभासवाद एवं अवच्छेदवाद में भी अन्तर स्पष्ट है। अवच्छेदवादी की दृष्टि से सर्वव्यापी एवं असीम ब्रह्म ही अविद्या की अनन्त उपाधियों के कारण अवच्छिन्न एवं ससीम रूप को प्राप्त होता है। अवच्छेद (ब्रह्म का - अवच्छिन्न रूप में दर्शन) मिथ्या है, और अवच्छिन्न दिखायी देने वाला ब्रह्म सर्वथा सत्य तथा वस्तुत: अनवच्छिन्न है। इसके विपरीत आभासवाद के अनुसार जीव की सत्यता का आभास किसी प्रकार भी सत्य नहीं है[1]। अज्ञान की कार्य-भूता बुद्ध्युपाधि से युक्त होकर उससे तादात्म्य भाव को प्राप्त हुआ वही चिदात्मा चिदाभासभूत जीव, कर्ता, भोक्ता और प्रमाता आदि कहा जाता है[2]।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि चिदात्मा तो एक है वह अनेक रूपों में कैसे उपलब्ध हो सकता है? इसके उत्तर में वार्तिककार कहते हैं कि चिदात्मा की उपाधि अनेकरूपा होती है और प्रत्येक बुद्धि में आभासित होकर चिदात्मा ब्रह्म चिदाभास जीव कहलाता है। बुद्धि के अनेक होने से जीव का अनेक होना सम्भव होता है। इसके फलस्वरूप भिन्न जीव- शरीरों में भिन्न बुद्धि होती है।

ईश्वर का एकत्व तथा जीव का अनेकत्व :- एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि बुद्धियाँ चूँकि अनेक होती है इसलिये तदाभासित चैतन्य की प्रतीति अनेक (जीवों के) रूप में होती है और अज्ञान के एक होने के कारण तदाभासित चैतन्य की

1- डा० राममूर्ति शर्मा : अद्वैतवेदान्त पृ० 168 ;

2- बुद्ध्युपहितश्च . . . . कथ्यते । सि०बि०पृ० 73 ;

प्रतीति एक { ईश्वर के } रूप में ही होती है[1]। आभासवादी आभास {प्रतिबिम्ब } को मिथ्या कहते हैं । चैतन्य का आभास ही उसका बन्धन है, तथा आभासित चैतन्य का ही मोक्ष भी होता है ।

जपाकुसुम सन्निहित स्फटिक के दृष्टान्त में दिखायी देने वाली रक्तिमा को रक्तिमाभास कहा जाता है और दर्पण में दिखायी देने वाला मुख मुख का प्रतिबिम्ब कहा जाता है । इसी तथ्य को कभी कभी ऐसा भी कहा जाता है कि स्फटिक में रक्तिमा का प्रतिबिम्ब तथा दर्पण में मुख का आभास होता है । वास्तविकता यह है कि आभासग्राहक स्फटिक उपाधि अपने निकट स्थित जपाकुसुमगत केवल रक्तिमा-गुण को ही अपने में दिखाती है, और दर्पण रूप उपाधि गुण- विशिष्ट मुखरूप वस्तु को बिम्ब से भिन्न रूप में प्रकट करती है ।

कर्तृत्वभोक्तृत्व — आभासवाद के अनुसार जैसे स्फटिक मणि में नेत्रों द्वारा प्रतिहत परावृत्त किरणों से जपाकुसुमगत रक्तिमा कभी नहीं देखी जा सकती है, क्योंकि किरणों का परावर्तन यहाँ नहीं होता है । जो रक्तिमा स्फटिक मणि में दृष्टिगत होती है वह जपाकुसुम में दिखायी पड़ने वाली रक्तिमा के होने पर भी एक अन्य ही रक्तिमा है । यह तद्भिन्नरक्तिमा स्वरूप से असत्य है । ठीक उसी प्रकार से बुद्धि में जीवरूप से आभासित चेतन वास्तविक ब्रह्म से आभासित भिन्न है ' जीव ' शब्द से अभिहित यह चैतन्य ब्रह्म-रूप से तो सत्य है किन्तु

1- प्रतिदेहं . . . . .भेदमानमिति । सि०बि०पृ० 73 ;

जीवरूप से असत्य है । क्योंकि जैसे स्फटिक का स्वयंगत गुण शुक्लता है जो कि रक्तिम कभी नहीं हो सकता तथा जपाकुसुम से आने वाली और साथ ही स्फटिक में प्रतीत होने वाली रक्तिमा जपाकुसुमगत रक्तिमा से भिन्न अन्य रक्तिमा ही कही जानी चाहिए । यह आभासित चैतन्य ब्रह्म रूप से सत्य और जीवरूप से असत्य इसलिये है कि ब्रह्म अविनाशी है तथा बुद्धि में आभासित होने के कारण जीव नश्वर है ,क्योंकि उपाधिगत स्वयं नश्वर है । जिस प्रकार आभासित जपाकुसुम की रक्तिमा से स्फटिक की शुक्लता तिरोहित हो जाती है ठीक उसी प्रकार बुद्धि और मन के दु:खादि धर्मों के आरोप से चिदाभास की स्वाभाविक आनन्दरूपता भी अभिभूत हो जाती है । चिदाभास चैतन्य का आभास होने के कारण जड नहीं है और अचेतन बुद्धिरूप उपाधि पर आधृत होने के कारण चेतन भी नहीं है । अत: यह चिदाभास जड और चेतन से विलक्षण है, इसीलिए यह अनिर्वचनीय है चिदाभास को बद्ध नहीं कहा जा सकता है,क्योंकि 'मुक्त' तो ब्रह्म या चिदात्मा होता है । ऐसी स्थिति में जो बद्ध है वह मुक्त कैसे हो सकता है । यदि तत्त्वज्ञान द्वारा यह मोक्ष का प्रयत्न भी करे तो उपाधि के साथ ही चिदाभास का भी नाश हो जायेगा । फिर यह कैसे सम्भव होगा कि कोई अपने ही नाश का प्रयत्न करे ?[1]

1- स्वनाशार्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तिश्चेति वाच्यम् । सि0बि0 75 ;

इसलिये चिदाभास को बद्ध न कह कर यह कहा जा सकता है कि चिदाभास द्वारा चिदात्मा बद्ध है जो कि उपाधिनाश के साथ ही मुक्त हो जाता है क्योंकि उसका मुख्य (वास्तविक) स्वरूप तो शुद्धबुद्ध मुक्त चैतन्य है। परन्तु गौण स्वरूप चिदाभास है जो बुद्धि में आभासित होता है तथा 'जीव' शब्द से कहा जाता है[1]।

मुक्ति :-- आभासवादी सुरेश्वराचार्य जीव और ईश्वर दोनों को ही चैतन्य का आभासमात्र एवं मिथ्या मानते हैं। जीव के ब्रह्म से भिन्न एवं मिथ्या होने के कारण, उपाधि नाश से जीवत्व का नाश भी होता है। आचार्य का कथन है कि आत्मस्वरूप जीव सदैव मुक्त है परन्तु अविद्या के कारण वह बद्धवत् आभासित होता है।

सुरेश्वर 'जीवन्मुक्ति' के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए मण्डन मिश्र के 'सद्योमुक्तिवाद' का खण्डन करते हैं। इस विषय में उनका कथन है कि 'सद्योमुक्ति' मानने पर सम्यग्ज्ञान होते ही तत्क्षण शरीरपात हो जाना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता है[2]। समस्त प्रपञ्चों की कारणभूता अविद्या के नष्ट होने पर मुमुक्षु की जीवनकाल में ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। अत:सद्योमुक्ति

1- तेन शुद्ध चैतन्यस्याभास एव बन्धस्तन्निवृत्तिश्चमोक्ष ....।
सि०बि० पृ० 75 ;

2- सम्यग्ज्ञानसमुत्पत्तिसमनन्तरमेव च ।शरीरपात:कस्मान्नेतच्चाप्यपहस्तितम् ।
(बृ०उ०भा०वा० 1/4/1546)

न मानकर ' जीवन्मुक्ति ' को मानना ही तर्कसंगत है । जीवन्मुक्ति का समर्थन आचार्य छान्दोग्योपनिषद् वाक्य "तस्यतावदेव चिरम् " से करते हैं ।

जीव की ' जीवन्मुक्ति ' के विषय में आगे सुरेश्वर कहते हैं कि ज्ञान से अज्ञान दूर होते ही जीव की मुक्ति हो जाती है ,क्योंकि जीव के बन्धन के मूल में उसका शरीर नहीं अपितु देहादि में अहन्ता तथा ममता की भावना ही है । इसलिये मुक्त होने के लिये देहपात की अपेक्षा नहीं होती वरन् अविद्यानिवृत्ति की आवश्यकता होती है ।वह शरीर रहते हुए भी मुक्त हो सकता है इस मुक्ति को ' जीवन्मुक्ति ' कहते हैं । ' विदेहमुक्ति ' का तात्पर्य है शरीर के बन्धन से भी मुक्त हो जाना । जीव के ' जीवन्मुक्त ' हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों के क्षीण होने तक देहादि रहते हैं क्योंकि ज्ञान के द्वारा संचित कर्मों का ही नाश होता है प्रारब्ध कर्मों का नहीं ।अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों के भोग के लिये जीव को शरीर धारण करना पड़ता है ।शरीर धारण करने पर भी मुक्ति में कोई अन्तर नहीं आता । विद्वान् के संचित तथा क्रियमाण कर्म निष्फल हो जाते हैं, क्योंकि बन्धन का कारण अविद्या है और उसका नाश हो गया होता है । इस प्रकार आचार्य ने शङ्कराचार्य के जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त का भलीभाँति समर्थन किया है ।

प्रतिबिम्बवाद :-- आचार्य शङ्कर जीव और ब्रह्म की एकता को सिद्ध करने के लिये अपने भाष्य ग्रन्थों में जहाँ जपाकुसुमादि का दृष्टान्त देकर आभासवाद की पुष्टि करते हैं, वहीं जल और सूर्य के प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त भी प्रस्तुत करते हैं जिससे कि प्रतिबिम्बवाद की सिद्धि होती है। ब्रह्मसूत्र के अंशाधिकरण में आचार्य ने जीव को ब्रह्म का आभास (प्रतिबिम्ब) कहा है और उसको जलसूर्यक के दृष्टान्त से सिद्ध किया है[1]। इसके अतिरिक्त " अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् सूत्र के भाष्य में आचार्य का कथन है कि जिस प्रकार भास्यमान सूर्य एक होने पर भी अनेक अर्थात् भिन्न-भिन्न जल रूप उपाधियों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक सूर्यों की भांति दिखायी पड़ता है, उसी प्रकार यह ब्रह्म, बुद्धि रूप उपाधियों की अनेकता के कारण अनेक जीव रूपों में दृष्टिगत होता है[2]। उपनिषदों में भी कहा गया है कि जैसे भिन्न जलों में पड़े हुए चन्द्र के प्रतिबिम्ब के अनेक दिखायी पड़ने पर भी वस्तुतः चन्द्र एक ही होता है वैसे, ही अनेक शरीरों (बुद्धियों) के दिखायी पड़ने पर भी पारमार्थिक आत्मा एक है[3]। इसी प्रकार कठोपनिषद्

1- आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः।
शां०भा० ब्र०सू० 2/3/50

2- ' यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ' इति।
वही 3/2/18

3- ' एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।' ब्र०बि०उ० पृ० 12·

के भाष्य में भी आचार्य का कथन है कि सभी देशकालपुरुषादि में निहित एक ही ज्ञान {ब्रह्म} नाम रूपादि विभिन्न उपाधियों के कारण अनेकवत् उसी प्रकार अवभासित होता है जैसे घटादि के जल में सूर्य । ' ब्रह्म ' ज्ञान रूप होने के कारण ही यहाँ ' ज्ञान ' शब्द से अभिहित किया गया है[1]।

प्रतिबिम्बवाद में प्रतिबिम्ब की बिम्बरूप से सत्यता होने पर भी प्रतिबिम्ब रूप से असत्यता होती है क्योंकि प्रतिबिम्ब का ' चिदंश ' सार्वकालिक, अजर एवं अमर होता है तथा उसका उपाध्यंश अल्पकालिक ही नहीं अपितु नश्वर भी होता है । आचार्य का कथन है कि जैसे कोई व्यक्ति जल में पड़े हुए प्रतिबिम्ब रूप में अपना दूसरा रूप देख सकता है वैसे ही ब्रह्म भी भिन्न-भिन्न उपाधियों में प्रतिबिम्बित होने के कारण ही विभिन्न रूपों वाला प्रतीत होता है अर्थात् बुद्धि रूप अत्यन्त स्वच्छ उपाधि में अकस्मात् ही प्रतिबिम्बित हुआ व्यापक ब्रह्म ही ' जीवभाव ' को प्राप्त हो गया है[2]।

आचार्य शङ्कर द्वारा प्रतिपादित इस प्रतिबिम्बवाद को उनके पश्चाद्वर्ती अनेक आचार्यों ने स्वीकृत करके उसे पल्लवित एवं विकसित किया ।

1- सत्यंज्ञानमनन्तम् ब्रह्म । तै0उ0 2/1/1 ;

2- रूपं रूपं प्रतीदं प्रतिफलनवशात्प्रातिरूप्यं प्रपेदे,
ह्येको द्रष्टा द्वितीयो भवति च सलिले सर्वतोऽनन्तरूपः ।
व्यापकं ब्रह्म तस्माज्जीवत्वं यात्यकस्मादतिविमलतरे बिम्बितं
बुद्ध्युपाधौ ।। वे0सु0 श्लोक - 25 ;

इन आचार्यों में पारस्परिक कुछ मतभेदों के कारण प्रतिबिम्बवाद को तीन रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है:-- §1§ विवरण मत- इसके प्रवर्तक आचार्य, प्रकाशात्मयति । §2§ संक्षेपशारीरक मत:- के आचार्य सर्वज्ञात्ममुनि हैं इस वाद को पूर्णप्रतिबिम्बवाद भी कहते हैं §3§ तृतीय मत के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं- विद्यारण्य, चित्सुख, मधुसूदन सरस्वती ।

§1§ बिम्बप्रतिबिम्बवाद §2§ ईश्वर तथा जीव दोनोंप्रतिबिम्ब हैं शुद्ध ब्रह्म साक्षी है । ये मत हैं :--

प्रकाशात्मा :—[12 वीं शताब्दी]

§1§ विवरण मत - इसके प्रवर्तक हैं प्रकाशात्मयति । प्रकाशात्मा ने अपने ग्रन्थ " पञ्चपादिका विवरण " में जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब स्वीकार किया है । इन्होंने श्रुति, स्मृति तथा सूत्रों के आधार पर इसी प्रतिबिम्बवाद का समर्थन तथा युक्तियों के द्वारा प्रतिबिम्बवाद में अन्य मतों द्वारा प्रदर्शित दोषों का निराकरण किया है । यही कारण है कि प्रतिबिम्बवाद के प्रतिष्ठापक के रूप में ' प्रकाशात्मयति ' समादृत हैं । विवरणकार के अनुसार अज्ञान से उपहित बिम्बरूप चैतन्य को ' ईश्वर ' कहा जाता है[1]। अन्त:करण तथा उसके संस्कारों से अवच्छिन्न जो अज्ञान होता है उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य की ' जीव ' संज्ञा होती है[2]। यहाँ एक तथ्य यह विचारणीय है कि अन्त:करण तथा अन्त:करण के

1- अज्ञानोपहितं बिम्ब चैतन्यमीश्वर: ।सि0बि0 पृ0 79 ;

2- अन्त:करणतत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इति विवरणकारा: वही पृ0 79 ;

संस्कार इन दोनों में से किसी एक से ही अवच्छिन्न अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य को 'जीव' कहते हैं। यह अन्तर इसलिये है कि जिस समय सृष्टिकाल रहता है उस समय अज्ञान अन्त:करण में अवच्छिन्न रहता है और जब प्रलयकाल रहता है तब उस अवस्था में अन्त:करण का लय हो जाने से अन्त:करण के संस्कारों के अवशिष्ट रहने के कारण उन्हीं से अज्ञान युक्त रहता है। चूंकि अन्त:करण और उनके संस्कार अनेक होते है, अत: उनके उपाधि के भेद से अज्ञान एक होते हुए भी घटाकाशादि के सदृश अनेक हो जाता है तथा उस अनेक अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य भी अनेक हो जाते हैं। इस अनेक जीववाद का समर्थन होता है।

आचार्य प्रकाशात्मयति का कथन है कि जीव तथा ईश्वर के मध्य में {उन दोनों की} भेदक उपाधि अज्ञान ही है। अनादि अज्ञान से भिन्न कोई अन्य उपाधि दोनों के मध्य नहीं है इसलिये आत्मसाक्षात्कार के समय अज्ञान के नष्ट होने पर ही ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होती है।

कुछ आचार्य जीव तथा ईश्वर दोनों को ही प्रतिबिम्ब मानते हैं परन्तु प्रकाशात्मयति आचार्य का कथन है कि उपाधि एक ही है जिससे एक ही प्रतिबिम्ब सम्भव हो सकता है। दो प्रतिबिम्ब के लिये दो उपाधियाँ चाहिए। इसलिये ईश्वर को बिम्ब तथा जीवको प्रतिबिम्ब स्वीकार करना ही उचित है।

आचार्य के अनुसार शुद्धचित् तत्त्व ही जो ईश्वर तथा जीव के रूप में दिखायी पड़ता है तथा साक्षीरूप में कार्य भी करता है वही जगत् का उपादान कारण कहा जा सकता है। जगत् की निमित्त कारण तो अविद्या ही है।

जीवजगत्सम्बन्धः— विवरणमत के अनुसार - प्रतिबिम्बवाद में प्रतिबिम्ब की बिम्बरूप से सत्यता तथा प्रतिबिम्ब रूप से असत्यता स्वीकार की गयी है ।प्रकाशात्मा कहते हैं कि माया के अनादि,अनिर्वचनीय तथा केवल चैतन्यमात्र से सम्बन्ध रखने वाली होने के कारण प्रतिबिम्ब की सत्यता तथा असत्यता होती है ।माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ' ईश्वर ' है । माया की परिच्छिन्नस्वरूपा तथा अनन्तप्रदेश व्यापिनी एवं ' आवरण ' और विक्षेप ' शक्ति से सम्पन्न अविद्या में पड़ा हुआ चैतन्य का प्रतिबिम्ब ' जीव ' कहलाता है[1]। जगत् की निमित्त कारण अविद्या की दो शक्तियाँ हैं जिनसे युक्त होकर वह सृष्टि रचती है । ये शक्तियाँ हैं (1) आवरण और (2) विक्षेप ।(1)आवरण :- शक्ति वह है जो जीव के स्व(ब्रह्म) रूप को आवृत करती है ।इस शक्ति का साधक ' मैं ब्रह्म नहीं हूँ 'यही ज्ञान होता है ।

(2)विक्षेप :- जहाँ आवरण शक्ति के कार्य की समाप्ति होती है,वहीं से विक्षेपशक्ति का कार्य प्रारम्भ होता है अर्थात् जीवों को दुःखसुख मोहादि से युक्त कराना विक्षेप शक्ति का कार्य है[2]। यहाँ अविद्या तथा माया में भेद को

1- अनादिरनिर्वाच्या भूतप्रकृतिश्चिन्मात्रसंबन्धिनी माया । तस्यां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः,तस्या एव परिच्छिन्नानन्तप्रदेशेषु आवरणविक्षेप-शक्तिमत्सु अविद्याभिधानेषु चित्प्रतिबिम्बो जीवः ।सि0ले0सं0पृ0 13;

2- ब्रह्म चैतन्यावरणानुकूला शक्तिरावरणशक्तिः ।आवरणं च ब्रह्मनास्ति न प्रकाशतइति व्यवहारयोग्यत्वम् ।विक्षेपपदेन तत्तज्जीवसाधारण-दुःखादिकं विवक्षितं तदनुकूला शक्तिर्विक्षेपशक्तिरित्यर्थः ।
सि0ले0सं0टी0 पृ0 13 ;

कल्पना करके ईश्वर को माया में प्रतिबिम्बित तथा जीव को अविद्या में प्रतिबिम्बित स्वीकार किया गया है ।

' अविद्याकृत दोष जैसे मूढ़ता, जड़ता, अज्ञान, नश्वरता आदि जीव के समान परमेश्वर में भी आ जायेंगे इस दोष के निवारण के लिये ही ' बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद ' की स्थापना की गयी है । एक जीववाद स्वीकार करने पर ' अविद्या ' उपाधि बनता है तथा अनेकजीववाद मानने पर 'अन्त:करण' उपाधि बनते हैं । इसलिये उपाधिकृत दोष प्रतिबिम्बरूप जीव के ही होते है बिम्बरूप ईश्वर के नहीं क्योंकि उपाधियाँ प्रतिबिम्बपक्ष में ही होती हैं । विवरणकार का कथन है कि आकाश में दिखाई पड़ने वाले सूर्य के जलादि में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब के समान ही ईश्वर और जीव में भी अन्तर समझना चाहिये[1]।

जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब है इस बात से जीव की परतन्त्रता तथा ईश्वर की स्वतन्त्रता भी दृष्टिगत है । इस तथ्य को हम एक लौकिक दृष्टान्त के द्वारा भी देख सकते हैं कि प्रतिबिम्बबिम्ब के अधीन होता है अर्थात् बिम्ब स्वतन्त्र तथा प्रतिबिम्ब परतन्त्र होता है । दृष्टान्त यह है कि जैसे पुरूष दर्पण में प्रतिबिम्बित अपने मुख को सीधा, टेढ़ा करके देखता है और प्रसन्न होता है उसी प्रकार से ब्रह्म या ईश्वर भी जीव के द्वारा किये गये

1- उपाधिकृत दोषाश्च प्रतिबिम्बे जीव एव वर्तन्ते न तु बिम्बे परमेश्वरे । उपाधे: पक्षपातित्वात् । एतन्मते व जलादौभासमान प्रतिबिम्ब सूर्यस्येव जीवपरभेद: । वे० प० पृ० 152 ;

कर्मों को देखता है और प्रसन्न होता है । ईश्वर की सृष्टि चूँकि निष्प्रयोजन नहीं होती है अत: यह केवल उसकी लीलामात्र ही मानी जा सकती है ।जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब होने के कारण चेतन है ।इस विषय में यह शङ्का हो सकती है कि जब जीव चेतन है तो जिस समय उसका प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ता है तो वह (प्रतिबिम्ब) अचेतन क्यों होता है । और चूँकि प्रतिबिम्ब अचेतन है अतएव जीव को भी हम अचेतन ही मानेंगे । इसके उत्तर में आचार्य का कथन है कि दर्पण में जीव का नहीं अपितु मुख का प्रतिबिम्ब पड़ता है जो चेतन न होकर जड़ होता है । बिम्बभूत मुख के अचेतन होने के कारण ही उसका प्रतिबिम्ब भूत मुख भी अचेतन है एवं अपने बिम्बैकरूपत्व को जानने में असमर्थ है ठीक इसी प्रकार से जब तक जीव में अज्ञान का उपाधि बनी रहेगा तब तक जीव भी अपने (बिम्बैकरूपत्व (ब्रह्म को नहीं पहचान सकेगा[1]।

विवरणकार ने शब्द प्रमाण तथा युक्ति के आधार पर प्रतिबिम्बवाद के विरुद्ध प्रदर्शित दोषों का निराकरण किया है । यदि कोई कहे कि रूपवान् पदार्थों का प्रतिबिम्ब तो सम्भव है परन्तु नीरूप तथा अमूर्त ब्रह्म का अन्त:करण में प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव हो सकता है ? इस पर आचार्य का कथन है कि जैसे अमूर्त तथा इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने वाले आकाश का भी (जलादि(में प्रतिबिम्ब पड़ता है ठीक उसी प्रकार से निरवयव तथा नीरूप ब्रह्म या चैतन्य

1- देवदत्तस्याचेतनांशस्यैव प्रतिबिम्बत्वात् चेतनांशस्यैव च प्रतिबिम्बत्वे प्रतिबिम्बहेतो:श्यामादिधर्मेण जाड्येनाप्यास्कन्दितत्वात् न तत् प्रतिबिम्बं बिम्बैकरूपतामात्मनो जानाति अचेतनत्वात् ।
पं० पा०वि० पृ० 110 ;

का प्रतिबिम्ब भी अन्तःकरण में पड़ सकता है क्योंकि प्रतिबिम्ब के लिये मूर्त या सावयव या रूपवान् होना आवश्यक नहीं है । अथवा जैसे जपाकुसुम का रूप भी तो नीरूप ही है पर उसका प्रतिबिम्ब स्फटिक में पड़ता[1] है दूसरा उदाहरण हम शब्द का ले सकते हैं । शब्द भी रूप रहित है परन्तु उसके प्रतिध्वनि रूप प्रतिबिम्ब की प्रतीति हमें लोक में प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होती है[2]। इसको इस प्रकार से भी स्पष्ट किया जा सकता है कि रूप नीरूप अर्थात् रूप से रहित है क्योंकि रूप गुण है और गुण में गुण कभी नहीं रहता है ।अवयव द्रव्य के ही हुआ करते हैं और चूंकि रूप द्रव्य नहीं है अतएव उसे सावयव भी नहीं कहा जा सकता । तथापि जपा के रूप का स्फटिक रूप उपाधि के अन्तर्गत आरोप रूप प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है ।

आचार्य प्रकाशात्मा का कथन है कि प्रतिबिम्ब के लिये यह आवश्यक नहीं है कि बिम्ब का प्रत्यक्ष (दर्शनादि) हो ही, क्योंकि किसी भी इन्द्रिय से अग्राह्य केवल साक्षिभास्य रूप रहित तथा निरवयव आकाश का प्रतिबिम्ब भी जलादि में देखा जाता है क्योंकि जानुमात्र जल में अति गम्भीर जल की प्रतीति होती है । तथा जानुमात्र परिमाण वाले जल के अन्दर आकाश की

1- जपाकुसुमरूपस्य नीरूपस्य निरवयवस्यापि स्फटिकादौ प्रतिबिम्ब दर्शनात् । सि० बि० पृ० 36 ;

2- शब्दस्यापि प्रतिशब्दाख्य प्रतिबिम्बोपलम्भात् । वही पृ० 36 ;

प्रतीति होती है क्योंकि उसमें चन्द्र,नक्षत्रादि परिमाण से प्रतीत होते है अर्थात् उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है[1]।

आकाश के प्रतिबिम्ब का नेत्र द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता है क्योंकि आकाश रूप हीन है परन्तु जो चाक्षुषत्वप्रतीति होती है वह भ्रम है ऐसा आचार्य का कथन है ।

अतएव आचार्य ने यह सिद्ध कर दिया कि निरवयव तथा नीरूप आकाश तथा जपाकुसुम की भाँति निरवयव तथा नीरूप चैतन्य का भी अन्त:करण में प्रतिबिम्ब पड़ सकता है[2]।

रूप के अतिरिक्त संख्या,परिमाण, संयोग,विभाग,परत्व,अपरत्व, चलन सुखत्व इत्यादि नीरूप वस्तुओं का भी प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है । रूप संख्या परिमाण इत्यादि सभी गुण हैं ।

जीव ईश्वर सम्बन्ध:- आचार्य का कथन है कि यदि कोई यह शङ्का करे कि जिस प्रकार जीव में सुख दु:ख राग,द्वेष तथा मालिन्यादि दोष देखे जाते हैं उसी प्रकार से ईश्वर में भी वे ही दोष प्रसक्त होने चाहिए क्योंकि प्रतिबिम्ब जीव का बिम्ब ईश्वर ही है और कार्य की अपेक्षा कारण में कोई दोष तथा गुण अधिक मात्रा में पाये जायेंगे । इसके समाधान में आचार्य का कथन है कि ऐसा नहीं है ।

1- अनिन्द्रियग्राह्यस्य साक्षिप्रत्यक्षस्याप्याकाशस्य जलादौप्रतिबिम्बोपलम्भात् । अन्यथा जानुमात्रेऽप्युदकेऽतिगम्भीरप्रतीतिर्न स्यात् । सि०बि०पृ० 36 ;

2- जपाकुसुमरूपस्य नीरूपस्य निरवयवस्यापि स्फटिकादौ प्रतिबिम्बदर्शनात् । वही पृ० 36 ;

ईश्वर या परमात्मा सर्वथा शुद्ध, निर्मल एवं निर्विकार है और रही बात जीवगत मालिन्य की तो वह उसका उपाधिगत दोष है बुद्धि मलिनसत्त्वप्रधाना कही भी गयी है क्योंकि उसकी कारणभूता अविद्या भी मलिन सत्त्व प्रधाना ही है। जैसे लोक व्यवहार में हम देखते हैं कि मलिन दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब मलिन ही होता है इससे यह सिद्ध तो नहीं होता है कि हमारा मुख ही मलिन है। अतः यह मलिनता ब्रह्मगत न होकर उपाधिगत ही होती है[1]।

जीवका अनेकत्व : आचार्य प्रकाशात्मा एक अविद्या पक्ष में भी अनेक जीववाद का समर्थन करते हैं। यह सब उपाधि के भेद से ही सम्भव है[2]। मूलतः तो कुछ भी नहीं है न बिम्ब और नहीं प्रतिबिम्ब। बिम्बप्रतिबिम्ब भाव औपाधिक है स्वाभाविक नहीं है। अनेक जीववाद में अन्तःकरण उपाधि बनता है। विवरणमत के समर्थक अन्तःकरण के साथ-साथ अन्तःकरण के संस्कारों और उनके ज्ञान को भी उपाधिरूप में स्वीकार करते हैं। अन्तर केवल यह है कि अन्तःकरण सृष्टिकाल में तथा अन्तःकरण के संस्कार प्रलयकाल में उपाधि बनते हैं।[3] एक ही अज्ञान (अन्तःकरण और तद्गत संस्कार रूप से) उपाधियों के भेद से अनेक हो जाता है फिर उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य भी अनेक हो जाते हैं। इस प्रकार एक ही अविद्या या अज्ञान में अनेक जीववाद का समर्थन होता है।

1- यथा मलिनो दर्पणः स्वमालिन्यं स्वान्तर्गतत्वं च प्रतिबिम्बेएवजनयति, तद्वत् अविद्या अपि स्वावरणकृत्यं प्रतिबिम्बभूतेपरमात्मनि अपि कुर्यात् इति भावः। शा०वे०त०मी० पृ० 120 ;

2- उपाधिनाक्रियते भेदरूपी देव क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ब्र०बि०उ०पृ०12;

3- यद्यपि अनेक जीववादे अन्तःकरण-तत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानस्यैव उपाधित्वं विवरणकृताम् अभिमतं नान्तःकरणमात्रस्य · · ·
शा० वे०त० पृ० 122 ;

मोक्ष :--

मुक्ति के विषय में प्रकाशात्मा ने कहा है कि 'तस्यतावदेवचिरम्'[1] अर्थात् ज्ञानी को तब तक ही देर रहती है जब तक (विदेह) मुक्ति नहीं होती । इसका अभिप्राय यह हुआ कि विवरणकार भी जीवों की 'जीवन्मुक्ति' को मानते हैं । तत्त्वज्ञान के बाद भी देहेन्द्रियादि की अवस्थिति रहती है अर्थात् ज्ञानी में तत्त्वज्ञान के पश्चात् कुछ काल तक प्रारब्ध कर्मों का होना आवश्यक है । आचार्य ने व्यासादि मुनियों का उदाहरण देते हुए कहा है कि इन मुनियों को शरीर रहते हुए ही आत्मसाक्षात्कार हुआ था इसलिये प्रारब्धकर्मों के शेष रहते हुए भी तत्त्वज्ञान शरीरावस्था में ही हो सकता है[2]।

विवरणकार ने मुक्तिदशा में जीव की ब्रह्मरूपता को न मानकर ईश्वर रूपता को ही स्वीकार किया है क्योंकि इनके अनुसार प्रतिबिम्बरूप जीव का बिम्ब शुद्ध ब्रह्म न होकर 'ईश्वर' ही होता है । इस मत में जब तक सभी जीव मुक्त नहीं हो जाते हैं तब तक उनकी 'ईश्वररूपता' ही सम्भव है । वह (जीव) ब्रह्मरूप नहीं हो सकता है । आचार्य दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जैसे अनेक दर्पणों में एक ही मुख का प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो तो उनमें से एक दर्पण को हटा लेने से उसमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब बिम्बरूप से ही अवस्थित रहता है, मुख रूप से नहीं, क्योंकि एक दर्पण के हट जाने से भी अन्य दर्पणों के सन्निधान

1- छा0उ0 6/14/2 ;

2- प्रारब्धकर्मवतश्च तत्त्वदर्शनं सशरीरस्यैव संभवति ।
व्यासादीनाञ्च सशरीराणामेव अपरोक्षदर्शनं श्रूयते ।
पं0पा0वि0 पृ0 787 ;

से मुख में बिम्बत्वविद्यमान ही है, वैसे ही एक ब्रह्मचैतन्य का अनेक उपाधियों में पड़ने पर एक प्रतिबिम्ब में तत्त्वज्ञान से उपाधिनाश होने पर उसमें पड़े हुए प्रतिबिम्ब (जीव) की बिम्बरूप (ईश्वररूप) रूप से ही अवस्थिति होगी ।

ईश्वर वस्तुत: ब्रह्म रूप ही है परन्तु जीवरूप प्रतिबिम्ब के निमित्त ही ब्रह्म की बिम्बरूपता या ईश्वररूपता है । जीवरूपप्रतिबिम्बों के हटते ही उसकी बिम्बरूपता भी समाप्त हो जाती है किन्तु जब तक प्रतिबिम्बरूप जीव रहता है तब तक ब्रह्म का भी ईश्वर या बिम्बरूप से अवस्थिति रहती है । समस्त जीवों की मुक्ति के साथ ही साथ ब्रह्म का ईश्वरत्व या बिम्बत्व भी समाप्त हो जाता है ।

सर्वज्ञात्मा :—[९०० ई०]

(2) संक्षेपशारीरक मत :-- दूसरा मत संक्षेपशारीरक का है । इसके प्रवर्तक आचार्य सर्वज्ञात्म मुनि हैं । जगत्कारणता के सम्बन्ध में शङ्कराचार्य के परवर्ती आचार्यों के द्वारा स्वीकृत तीनों मतों में सर्वज्ञात्म मुनि को प्रमुख स्थान दिया गया है । इस मत को 'पूर्णप्रतिबिम्बवाद' भी कहा जाता है ।

जीव, ईश्वर तथा जगत् का कारण कौन है ? इस सम्बन्ध में संक्षेप-शारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि का कथन है कि अविद्या में (शुद्ध) चैतन्य का प्रतिबिम्ब 'ईश्वर' है तथा बुद्धि (अन्त:करण) में प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य 'जीव' कहलाता है । इन दोनों ईश्वर और जीव में अनुगत साक्षी रूप, शुद्धबिम्बचैतन्य है[1] जो अज्ञानोपाधि से रहित, अविद्यागत प्रतिबिम्ब का मूल है तथा जगत् का

1- अज्ञान प्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वर: । बुद्धि प्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव: । अज्ञानानुपहितं तु बिम्ब चैतन्यं शुद्धमिति संक्षेपशारीरककारा: ।
सि० बि० पृ० 79 ;

कारण तथा नियन्ता भी है । आचार्य के अनुसार इस मत में समष्टि अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है और व्यष्टि अज्ञान के कार्यभूत अनेक बुद्धियों में प्रतिबिम्बित चैतन्य रूप जीव हैं ।[1]

जीवईश्वर-सम्बन्ध :— प्रलयकाल में माया तथा बुद्धि आदि उपाधियों के विनष्ट होने पर ईश्वर तथा जीव का ब्रह्म में विलय हो जाता है[1]। ईश्वर का सम्बन्ध अज्ञान (माया) से होने पर भी वह (अज्ञान) उस (ईश्वर) पर कुछ प्रभाव नहीं डाल पाता, क्योंकि इस समय अज्ञान कारणावस्था में होने के कारण अस्पष्ट तथा अप्रकट रूप में होता है । परन्तु जब वह अन्त:करण के रूप में जीव की उपाधि बनता है तो उस समय जीव पूर्णरूपेण अज्ञानाधीन अल्पज्ञ तथा अल्पशक्तिवाला हो जाता है । उसको अपने अल्पज्ञ होने का भी अनुभव भली प्रकार से हो जाता है । जीव का जीवभाव अविद्यानाश से ही होता है ।

आचार्य का कथन है कि कूटस्थ ब्रह्म स्वयं (अकेले) कैसे जगत् का उपादान कारण हो सकता है इसमें अनुपपत्ति होने के कारण यह माना जाना चाहिए कि ब्रह्म-माया की सहायता से ही जगत् का कारण बन सकता है । किसी भी कार्य का कारण होना इसलिये आवश्यक है कि बिना कारण के कोई

1- मायारूपोपाधि विगमे सति ईश्वरस्यापि ब्रह्मणि विलयो भवति ।
शा०वे०त०मी० पृ० 117 ;

2- ईश्वरस्य अज्ञान सम्बन्धे सत्त्वेऽपि अज्ञानम् अस्पष्टम् अप्रकटं वा ।
जीवस्य उपाधि:अन्त:करणम् ।.... जीव:अविद्याधीन:अल्पज्ञ:
अल्पशक्तिश्च । 'अहमज्ञ:' इति जीवस्य अज्ञानानुभव: स्पष्ट: ।
वही पृ० 117 ;

भी कार्य हो नहीं सकता है । जैसे किसी भी घट की उत्पत्ति बिना मिट्टी के नहीं हो सकती है उसी प्रकार इस संसार की उत्पत्ति का भी कोई कारण अवश्य ही है और वह ब्रह्म है जो माया के सहयोग से सृष्टि रचता है[1]।

यद्यपि अनादि माया का सम्बन्ध ब्रह्म से होने पर ब्रह्म निरूपाधिक कूटस्थ चैतन्य तो नहीं रह जाता है तथापि अन्य समस्त उपाधियाँ नहीं रहती हैं । इस विषय में आचार्य कहते हैं कि निरूपाधिक,निर्विकार तथा कूटस्थ ब्रह्म का सम्पर्क जिस समय माया से होता है उस समय ब्रह्म की संज्ञा ब्रह्म न होकर ' ईश्वर ' हो जाती है,तब इसको इस प्रकार कहा जाता है कि ' माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म को ईश्वर कहते हैं ।[2]

सर्वज्ञात्ममुनि का कथन है कि यह जीव कार्योपाधि है तथा ईश्वर कारणोपाधि है । अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर तथा अन्त:करण में प्रतिबिम्ब चैतन्य जीव कहलाता है[3]। आचार्य एकजीववाद का अनुसरण करके भी जीव के बन्ध तथा मोक्ष की व्यवस्था को भलीभाँति प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य एक ही जीव है । चूँकि अविद्या एक ही है अत: उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य भी एक ही होना चाहिए ।एक ही अविद्या में जीवएक न होकर अनेक होना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है तथा यह सम्भव

1- ब्रह्मैवोपादानं कूटस्थस्य स्वत: कारणत्वानुपपत्तेर्मायाद्वारा(कारणमपिद्वारं-कार्ये इति द्रा॰पा०:) कारणम् ।अकारणमपि कार्येऽनुगच्छति मृद स्वतद्गत-श्लक्ष्णत्वादेरपि घटेऽनुगमदर्शनादित्याहु: ।।सि०ले०सं०पृ० 13;

2- तस्य निरूपाधिक चैतन्यस्य बिम्बस्य अविद्यात्मिकायां मायायां-प्रतिबिम्बम् ईश्वरचैतन्यम् । शा०वे०त०मी० पृ० 117 ;

3- कार्योपाधिरयं जीव:,कारणोपाधिरीश्वर इति श्रुतिमनुसृत्य अविद्यायां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर: अन्त:करणे चित्प्रतिबिम्बो जीव: ।
सि०ले०सं० पृ० 14 ;

भी नहीं है । जीवों की जो अनेकता दृष्टिगत है वह अन्त:करण की विभिन्नता के कारण ही सम्भव होती है । अन्त:करण के प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न होने से उनमें प्रतिबिम्बित जीवों में भी भेद होना स्वाभाविक है ।

आचार्य कहते हैं कि बुद्धि या अन्त:करण के भेद से जीवों का नानात्व सिद्ध होता है[1], क्योंकि बुद्धियाँ प्रतिजीव में भिन्न होती हैं । उनके संस्कार तथा संस्कारावच्छिन्न अज्ञान का भेद जिससे प्रतिबिम्बित चैतन्य का भेद भी होता है । इस प्रकार से जीवों की अनेकता हो जाती है ।

आचार्य के अनुसार जीव तथा ईश्वर के मध्य केवल इतना ही अन्तर या भेद है जितना जलाशय में स्थित जल तथा जलाशय में रखे किसी बर्तन में स्थित जल में पड़ने वाला सूर्य के प्रतिबिम्ब में भेद है । यद्यपि सूर्य की ही भाँति ब्रह्म में भी स्वरूपत: कोई अन्तर न होने पर भी (अज्ञान तथा अन्त:करण रूप) उपाधिगत भेद तो है ही[2]।

एक जीववाद :--

आचार्य सर्वज्ञात्ममुनि एक जीव के समर्थक होते हुए भी जीवों के बन्धन और मोक्ष की व्यवस्था सुचारु रूप से करते हैं । उनके अनुसार विभिन्न अन्त:करणों में प्रतिबिम्बित चैतन्य से तो जीवों की अनेकता ही सिद्ध होती है । जिस किसी अन्त:करण में ब्रह्मसाक्षात्कार होगा उसी जीव की मुक्ति कही जायेगी अन्य अमुक्त ही रहेंगे । आचार्य के अनुसार अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही मुख्य जीव है । अविद्या के एक होने के कारण उसमें प्रतिबिम्बित जीव

1- बुद्धिभेदाज्जीवनानात्वम् । सि०बि० पृ० 79 ;

2- जलाशयस्थजलगतशरावस्थजलगतयो: सूर्यप्रतिबिम्बयो: इति जीवेश्वरयो: भेद: । शा०वे०त०मी० पृ० 118 ;

भी एक ही है परन्तु अन्त:करणोंकेअनेक होने के कारण उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य अनेक होते हैं ।

एक अद्वितीय ब्रह्मही अनादि अविद्या के वशीभूत होकर जीवभाव को प्राप्त करता है तथा तत्त्वज्ञान होने पर मुक्त हो जाता है । यही एक जीववाद का सार है ।

मोक्ष :--

सर्वज्ञात्ममुनि मुक्ति-दशा में जीव को विशुद्ध ब्रह्म के रूप में मानते हैं क्योंकि जीव तथा ईश्वर दोनों ही प्रतिबिम्बरूप हैं, इसलिये जीव को मुक्तदशा में ईश्वर-रूप कहा ही नहीं जा सकता है क्योंकि मुक्त होकर वह यदि ईश्वररूप को प्राप्त करता है तो पुन: उसके बन्धन की सम्भावना हो सकती है कारण कि ईश्वर भी तो प्रतिबिम्बान्तर ही है । सर्वज्ञात्ममुनि ने 'जीवन्मुक्ति' को नहीं माना है । उनका कथन है कि अविद्या के विरोधी आत्म-साक्षात्कार के प्राप्त हो जाने पर अविद्या की अनुवृत्ति लेशमात्र भी सम्भव नहीं है अतएव तत्त्वज्ञान होने पर तत्क्षण ही जीव की मुक्ति हो जाती है । इस प्रकार आचार्य सर्वज्ञात्मा 'जीवन्मुक्ति' को न मानकर 'सद्योमुक्ति' के समर्थक हैं ।

विद्यारण्य स्वामी :-- [1350ई०]

तृतीय मत के समर्थक आचार्य विद्यारण्य स्वामी हैं। यद्यपि आचार्य विद्यारण्य भी प्रतिबिम्बवाद के ही समर्थक हैं फिर भी अन्य दोनों प्रतिबिम्बवादियों के मतों से इनके मत में कुछ भिन्नता है। इस भिन्नता को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :-- विवरणकार के अनुसार ईश्वर बिम्ब तथा जीव प्रतिबिम्ब है और संक्षेपशारीरककार का कथन है कि ईश्वर तथा जीव दोनों ही प्रतिबिम्ब हैं। आचार्य विद्यारण्य का कहना है कि माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ' ईश्वर ' है तथा अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ' जीव ' है। विद्यारण्य प्रकृति के माया तथा अविद्या - ये दो भेद मानते हुए कहते हैं कि विशुद्ध सत्वगुण प्रधानाप्रकृति ' माया ' है तथा मलिन सत्वगुण प्रधानाप्रकृति ' अविद्या ' है[1]।

प्रकृति के इन गुण - भेदों के कारण ही इसमें प्रतिबिम्बित चैतन्यों के स्वभाव में महान् अन्तर हो जाता है। माया में प्रतिबिम्बित चिदात्मा ब्रह्म उस माया को अपने अधीन रखता हुआ सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त 'ईश्वर ' की संज्ञा से अभिहित होता है[2]।

इसके विपरीत अविद्या या अन्त:करण में प्रतिबिम्बित तथा उसी {अविद्या} के वशीभूत चिदात्मा ब्रह्म की ' जीव ' संज्ञा होती है। यह जीव

1- सत्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।
पञ्च0 1/16 ·

2- मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वर: ।।
वही 1/16 ·

हो गया । इन्द्रियादि का स्वामी बनकर ' जीव ' शब्द से अभिहित हो गया[1]।

जीव की अवस्थाऐं :-- आचार्य के अनुसार जीव तीन प्रकार के शरीरों का स्वामी होता है तथा प्रत्येक शरीर में उसे भिन्न - भिन्न नामों से जाना जाता है । ये शरीर हैं :- §1§ स्थूल, §2§ सूक्ष्म तथा §3§ कारण शरीर । स्थूल शरीर में जीव की संज्ञा ' विश्व '[2]होती है । सूक्ष्म शरीर में ' तैजस ' तथा कारण शरीर में ' प्राज्ञ ' होती है[3]। इन तीनों की तीन अवस्थायें भी होती हैं -§1§ स्थूल शरीर की जाग्रत्, §2§ सूक्ष्मशरीर की स्वप्न अवस्था तथा §3§ कारण शरीर की सुषुप्ति अवस्था होती है । जीव की उपस्थिति लिङ्गशरीर या सूक्ष्मशरीर में ही मानी गयी है । आचार्य ने सूक्ष्मशरीर का 17 तत्त्वों से निर्मित बताया है[4]। प्राणी की मृत्यु के समय भी इस शरीर का नाश नहीं होता है केवल स्थूल शरीर ही समाप्त होता है । लिङ्गशरीर अविद्या नाश के साथ-साथ नष्ट होता है । इसके अतिरिक्त आचार्य ने पाँच कोशों का भी वर्णन किया है जिससे आवृत हुआ जीव स्वरूप को भूल कर संसार में भ्रमता रहता है ।ये कोश

1- कृत्वा रूपान्तरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः ।
इति ताः श्रुतयः प्राहुर्जीवत्वं प्राणधारणात् ।। पञ्च04/10तथा10/1 ;

2- तैजसा विश्वतोयातो देवतिर्यङ्गनरादयः । वही 1/29 ;

3- प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते । वही 1/24 ;

4- बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया ।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ।। वही 1/23 ;

हैं अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, बुद्धिमय तथा आनन्दमय[1]। ऊपर वर्णित शरीरों की रचना इन्हीं कोशों के द्वारा होती है । जो लिङ्गदेह की कल्पना का अधिष्ठान है, वह कूटस्थ दूसरा लिङ्गदेह तथा तीसरा उसमें स्थित चिदाभास, इन तीनों के समूह को आचार्य ने 'जीव' का नाम दिया है[2]। किसी भी अधिष्ठान या आधार के बिना कोई वस्तु स्थिर नहीं रह सकती है । इसके लिये कूटस्थ की आवश्यकता है तथा माया और ईश्वर को जगत् सृष्टि के लिये परस्पर अपेक्षा है क्योंकि ये दोनों विरोधी स्वभाव के हैं ।

आचार्य विद्यारण्य का कथन है कि चूंकि ईश्वर भी माया में प्रतिबिम्बित होता है इसलिये माया के कार्यों से सम्बद्ध वह कहा ही जायेगा । भले ही ईश्वर पर माया का कोई प्रभाव न पड़े । विशुद्धसत्त्वगुण प्रधान माया उपाधि वाला परमेश्वर कारण सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों अभिमान रखने पर क्रमशः 'ईश्वर', 'हिरण्यगर्भ'[3] तथा 'वैश्वानर' या विराट्[4] की संज्ञा वाला होता है । ईश्वर और प्राज्ञ, हिरण्यगर्भ और तैजस् तथा वैश्वानर और विश्व-आत्मा की इन संज्ञाओं में केवल समष्टि और व्यष्टि का ही अन्तर है ।

1- अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति पंच ते ।
कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत् ।। पञ्च-1/33 ;

2- चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः ।
चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्संघो जीवउच्यते ।। वही 4/11 ;

3- हिरण्यगर्भनामीशस्तयोर्व्यष्टिसमष्टिता । वही 1/24 ;

4- हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन्देहे वैश्वानरो भवेत् । वही 1/28 ;

आचार्य ने चेतन तत्व को चार रूपों में प्रस्तुत किया है ।§1§ कूटस्थ §2§ ब्रह्म §3§ ईश्वर §4§ और जीव । इन चारों में परस्पर केवल इतना ही अन्तर है जितना एक ही आकाश के घटाकाश, महाकाश, जलाकाश तथा मेघाकाश इन चार भेदों में है[1]। चेतन तत्व का अथवा आकाश का यह §अन्तर§ वास्तविक न होकर उपाधिगत ही होता है जो कि उपाधि नाश के साथ ही साथ नष्ट हो जाता है ।

साक्षी :--
----- पञ्चदशी के कूटस्थदीप, नाटकदीप तथा चित्रदीप प्रकरण में विद्यारण्य स्वामी ने साक्षी अर्थात् ' कूटस्थ ' का वर्णन अत्यन्त विस्तृत रूप में तथा विभिन्न प्रकार से किया है । ' साक्षी ' और जीव ' में क्या भेद है इस तथ्य को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार किसी भित्ति पर प्रकाशक सूर्य का एक सामान्य प्रकाश पड़ता है और दूसरा दर्पण से प्रतिक्षिप्त दर्पण-सूर्य का विशेष प्रकाश होता है, इसी प्रकार अविकारी चैतन्य से सामान्यतया प्रकाशित ' देह '[2] बुद्धिस्थ चिदाभास रूप जीव से विशेषतथा प्रकाशित होता है । यह कूटस्थ आत्मा सांसारिक विषयों का भोक्ता न होकर केवल साक्षि-मात्र होता है[3] अर्थात् वह जिस अवस्था में उन भोग्य विषयों को देखता है उनसे

1- कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा ।
घटाकाश महाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा ।। पञ्च0 6/18 ;

2- स्वादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत् ।
कूटस्थ भासितो देहो धीस्थजीवेन भास्यते । वही 8/1

3- स यत्तत्रेक्षते किञ्चित्तेनान्वागतो भवेत् ।
दृष्टवैव पुण्यं पापं चेत्येवं श्रुतिषु डिण्डिमः ।। वही 7/212 ;

सम्बद्ध न होकर दूसरी अवस्थाओं में चला जाता है। अभिप्राय यह है कि पुण्य और पाप के सुख और दुःख रूप फल को अनुभव नहीं करता है। यह साक्षी जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में निर्विकार भाव से भ्रमण करता है फिर भी उन विषय भोगों से लिप्त नहीं होता है[1]।

जीव का भोक्तृत्व :-- अद्वैत-वेदान्त के सभी आचार्यों ने 'जीव' को ही भौतिक विषयों का कर्त्ता तथा भोक्ता स्वीकार किया है। इस भोक्ता को 'विज्ञानमय' तथा 'चिदाभास' आदि शब्दों से आचार्य सम्बोधित करते हैं।[2] इस चिदाभास को मिथ्या यह श्रुति "जीवेशावाभासेन करोति" भी मानती है तथा विद्वानों के द्वारा यह जगत् मिथ्या माना जाता है और चिदाभास जगत् के अन्तर्गत आने के कारण मिथ्या है[3]। सुषुप्ति तथा मूर्च्छा आदि में चिदाभास का विनाश भी साक्षी के द्वारा अनुभूत होता है[4]।

पञ्चदशी के प्रथम प्रकरण में आचार्य कहते हैं कि जीव आत्मतत्त्व का ज्ञान न होने के कारण मनुष्यादि शरीर धारण करके उन शरीरों के योग्य कर्मों को करते हैं तथा उनका फलोपभोग करते हैं। जीव के आवागमनरूपी चक्र

1- त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्योविलक्षण साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिव: ।। पञ्च07/214 ;

2- .. . . विज्ञानमय: शब्दित: ।
चिदाभासो विकारी यो भोक्तृत्वं तस्यशिष्यते । वही 7/216 ;

3- मायिकोऽयं चिदाभास: श्रुतेरनुभवादपि ।
इन्द्रजालं जगत्प्रोक्तं तदन्त: पात्ययं यत: ।। वही 7/217 ;

4- विलयोऽप्यस्य सुप्त्यादौ साक्षिणा ह्यनुभूयते । वही 7/218 ;

को आचार्य ने नदी की धार में फँसे कीटों के दृष्टान्त द्वारा प्रस्तुत किया है[1]। जीव की जाग्रत् तथा स्वप्न काल में जब शरीर तथा इन्द्रियाँ थक जाती है तब उसका मन विश्राम प्राप्त करने के लिये सुषुप्ति अवस्था का आश्रय लेता है[2]। सुषुप्ति काल में केवल अज्ञानमात्र होने के कारण जाग्रत् के विषय भोगों तथा मन की वासनाओं का सर्वथा अभाव होता है अतएव जीव को इस अल्पकाल में अपूर्व सुख एवं आनन्द का लाभ होता है जिसकी प्रतीति उसको जागने पर 'मैं सुख पूर्वक सोया तथा मैंने कुछ नहीं जाना' - इस रूप में होती है[3]। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने वाला चेतन आत्मा ही 'जीव' बनकर विषय-भोक्ता कहलाने लगता है[4]। ये सांसारिक विषय-भोग ही जीव को बन्धन में बाँधते हैं इनसे ही स्वयं को सुखी तथा दुःखी मानता है। जीवों का नानात्व भी आचार्य मानते हैं जो कि उपाधियों से सम्भव होता है[5]।

<u>मोक्ष</u>:-- जीव की यह बद्धता वास्तविक न होकर मायिक होती है जिसकी निवृत्ति 'आत्मबोध' के साथ ही हो जाती है। आचार्य विद्यारण्य ने अपने

1- कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुञ्जते। नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम्। पं०च० 1/30

2- जीवोपाधिमनस्तद्वद्धर्मफलाप्तये।
स्वप्ने जाग्रति च भ्रान्त्वा क्षीणे कर्मणि लीयते।वही 1/47 ;

3- सुखमस्वाप्समत्राहं न वै किञ्चिदवेदिषम्।
इति सुप्ते सुखाज्ञाने परामृशति बोत्थितः।।

4- चित्तादात्म्यात्त्रिभिर्देहैर्जीवः सन्भोक्तृतां व्रजेत्। वही 4/6 ;

5- एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।। वही 5/7 ;

ग्रन्थ पञ्चदशी में 'जीवन्मुक्ति' को भी स्थान दिया है । 'जीवन्मुक्ति' कोई अन्य मुक्ति नहीं है वरन् यह वह मुक्ति होती है जो जीव को स्थूल शरीर रहते ही हो जाती है । ऐसा तब होता है जब आत्मसाक्षात्कार के द्वारा संचित तथा क्रियमाण कर्म दग्ध हो जाते हैं ।[1] और केवल प्रारब्धकर्म शेष रह जाते हैं ।अर्थात् दग्ध हुए संचित और क्रियमाण कर्मों वाले और प्रारब्ध कर्मों का भोग करने वाले विद्वान् की स्थिति 'जीवन्मुक्ति' कही जाती है । प्रारब्ध कर्मों का भोग करके ज्ञानी के शरीर का नाश हो जाता है तब वह पूर्णरूप से मुक्त हो जाता है,जिसे 'विदेहमुक्ति' कहा गया है । 'जीवन्मुक्ति' तथा 'विदेहमुक्ति' में अन्तर मात्र इतना होता है कि जीवन्मुक्ति में मुक्त विद्वान् के संचित तथा क्रियमाण कर्म ही नष्ट होते हैं प्रारब्ध कर्मों का भोग उसे करना ही पड़ता है तथा 'विदेहमुक्ति' में प्रारब्ध कर्मों का भोग भी समाप्त हो जाता है और विद्वान् का शरीरपात हो जाता है ।तथा पुनर्जन्म लेने की रही सही सम्भावना भी निर्मूल हो जाती है ।

क्रममुक्ति :-- आचार्य विद्यारण्य जीवन्मुक्ति के साथ ही साथ 'क्रममुक्ति' को भी स्वीकार करते हैं ।क्रममुक्ति सगुण ब्रह्म की उपासना करने से उपासक को प्राप्त होती है । इस मुक्ति में शरीरपात के पश्चात् उपासक को अपने उपास्य 'हिरण्यगर्भ' नामक ब्रह्मा के पास जाना होता है[2]।इसके पश्चात् जब

1- पञ्चदशी 14/13,14 ;

2- य उपास्ते त्रिमात्रेण ब्रह्मलोके स नीयते ।
स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरुषमीक्षते । वही 9/144,145 ;

हिरण्यगर्भ की मुक्ति होगी तभी इन उपासकों की भी मुक्ति होती है । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि उपासना-काल में हा उपासकों की मुक्ति निश्चित हो जाती है । मृत्यु के पश्चात् इन्हें शरीर धारण नहीं करना पड़ता है[1]।

मुक्ति-प्राप्ति के लिये क्या करना चाहिए इस विषय में आचार्य का कथन है कि प्रतीयमान द्वैत की निरन्तर अवज्ञाकरना चाहिए जिस का लाभ यह होता है कि साधक की बुद्धि 'अद्वैततत्त्व' में स्थिर हो जाती है और स्थिर बुद्धि पुरूष 'जीवन्मुक्त' कहलाने लगता है[2]। गीता में इस स्थिति को 'ब्राह्मी' स्थिति कहते हैं । इस स्थिति तक पहुँचने के पश्चात् जीव फिर से माया के बन्धन में नहीं फँसता है अर्थात् उसे जन्म नहीं लेना पड़ता और यही द्वैतावज्ञा ही साधक को विदेहमुक्ति तक पहुचाती है[3]। ज्ञानी किसी भी अवस्था में प्राणों का त्याग करे उसे पुन: 'मैं जीव हूँ,सुखी अथवा दु:खी हूँ' यह प्रतीति नहीं होती है[4]।

यदि कोई ऐसी शङ्का करे कि जब तत्त्वबोध से संचित और क्रियमाण जैसे कर्म दग्ध हो सकते हैं तो प्रारब्ध कर्मों में ही ऐसी कौन सी बात है जिसको ज्ञानाग्नि भी जलाने में असमर्थ होती है । इस विषय में आचार्य का कहना है कि 'प्रारब्धकर्म' का अर्थ है जो कर्म फल देना प्रारम्भ कर चुके हैं ।जैसे

1- निर्गुणोपास्तिसामर्थ्यादत्र तत्त्वमेवक्ष्यते ।
पुनरावर्तते नायं कल्पान्ते च विमुच्यते ।।

2- द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैते धी:स्थिरा भवेत् ।
स्थैर्ये तस्या: पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते । पञ्च02/102,13/82 ;

3- एषा ब्राह्मी स्थिति:पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ।। वही 2/103 ;

4- नीरोगउपविष्टो वा रुग्णो वा विलुण्ठन्भुवि ।
मूर्च्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान्भ्रान्तिर्न सर्वथा ।। वही 2/106 ;

धनुष से चलाया गया तीर अथवा कुम्हार का चक्र लक्ष्य तक पहुँचने के पश्चात् ही उनका वेग समाप्त होता है । तीर मारने के पश्चात् व्यक्ति को अपनी भूल मालुम होती है तब वह भले ही धनुष बाण नष्ट कर डाले लेकिन मुक्त बाण तो लक्ष्य तक पहुँचेगा ही ठीक उसी प्रकार ये फल देने के लिये प्रारम्भ हो चुके कर्म बीच में रोके नहीं जा सकते है तथा भोग के द्वारा ही धीरे-धीरे शान्त होते हैं ।[1] भोगकाल में कभी - ' मैं मनुष्य हूँ ' ऐसी प्रतीति होने लगती है अर्थात् ज्ञान होने पर तुरन्त ही नष्ट नहीं हो जाती है जैसे रज्जु-ज्ञान होने पर भी सर्पभय से कपकपी धीरे - धीरे ही समाप्त होते हैं और अंधेरे में वह रस्सी उस व्यक्ति को फिर सर्प प्रतीत होने लगती है[2]। ये प्रारब्ध कर्म जीव की जन्म आयु तथा उस आयु का भोग ये तीन चीजें निर्धारित होती हैं ।

सद्योमुक्ति तथा क्रममुक्ति में अन्तर यह है कि सद्योमुक्ति ज्ञान से तथा क्रममुक्ति ध्यान या उपासना से प्राप्त होती है ।सद्योमुक्ति से तत्क्षण ही अविद्या निमित्तक समस्त बन्धनों से निवृत्ति होने के साथ ही साथ पुन: जन्म तथा मृत्यु से भी छुटकारा मिल जाता है और क्रममुक्ति में उपासक ध्यान का सहारा लेकर शरीरपात के पश्चात् देवयान से जाकर कार्यब्रह्म को प्राप्त करता है तत्पश्चात् ' कैवल्य ' या ' मोक्ष ' को प्राप्त करता है ।

1- एवमारब्ध भोगो पि शनै: शाम्यति नो हठात् ।
भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योऽहमिति भासते ।। पञ्च0 7/245,7/250 ;

2- रज्जुज्ञानेऽपि कम्पादि: शनैरेवोपशाम्यति ।
पुनर्मन्दान्धकारे सा रज्जु: क्षिप्तोरगो भवेत् ।। वही 7/244 ;

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार जीव का स्वरूप :---[1600 ई०]

जीव-जडात्मक इस जगत् को मधुसूदन सरस्वती केवल दो रूपों में ही देखते हैं । {1} द्रष्टा {2} दृश्य । जिसमें से उन्होंने पारमार्थिक,अद्वितीय,नित्य, कूटस्थ आत्मा को ' द्रष्टा ' या ' दृक् पदार्थ ' तथा उससे भिन्न समस्त जड जगत् को ' दृश्य पदार्थ ' कहा है ।[1] दृक् पदार्थ यद्यपि वस्तुत: एक है,तथापि उपाधि के कारण ईश्वर, जीव और साक्षी भेद से तीन प्रकार का प्रतीत होता है । उनमें कारणस्वरूप अज्ञानोपाधि ' ईश्वर ' है । अन्त:करण और अन्त:करण के संस्कारों से अवच्छिन्न अज्ञानोपाधि ' जीव ' है । इन दोनों में अनुगत तथा सबका अनुसंधान करने वाला चैतन्य 'साक्षी ' कहलाता है[2]।

मधुसूदन सरस्वती यद्यपि ' दृष्टिसृष्टिवाद ' के समर्थक हैं,परन्तु प्रकाशानन्द की भाँति सृष्टि को जीवकृत न मानकर ईश्वररचित ही मानते हैं । इनके अनुसार "एकजीववाद ही दृष्टिसृष्टिवाद का मुख्य सिद्धान्त है ।"अन्य सभी सिद्धान्तों में वे आचार्य शङ्कर से साम्य रखते हैं । जीव के सन्दर्भ में ये मूलत: प्रतिबिम्ब वादी हैं ।

जीव के प्रकार तथा अवस्थायें :--

सभी जडपदार्थ चेतन की उपाधि हैं । व्यष्टि उपाधि वाला चैतन्य ' जीव ' कहा जाता है,तथा जड-समष्ट्युपाधिक

1- अस्मिन् मते पदार्थो द्विविध:-दृक् दृश्यं च । सि० बि० पृ० 148 ;

2- तत्र दृक्पदार्थ आत्मा पारमार्थिक एक एव सर्वदैकरूपोऽप्यौपाधिकभेदेन - त्रिविध:, ईश्वरो जीव: साक्षी चेति । तत्र कारणीभूताज्ञानोपाधिरीश्वर: । अन्त:करणतत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानोपहितो जीव: ।· · जीवेश्वरानुगतं सर्वानुसंधातृचैतन्यं साक्षीत्युच्यते । वही पृ० 150 ;

चेतन 'ईश्वर' नाम से अभिहित होता है। चेतन का उपाधिभूत जड़समूह तत्तत्काल-कृत अवस्था भेद से स्थूल, सूक्ष्म और कारण या अव्याकृत है। उक्तभेद के कारण यह तीन प्रकार का है। उनमें से भी पञ्चीकृत-भूतात्मक जगत् (भौतिकशरीरादि) स्थूल है। उसी स्थूल का कारणीभूत अपञ्चीकृत भूतात्मक (इन्द्रियादि) सूक्ष्म है। उस सूक्ष्म का कारणीभूत मूल अज्ञान अव्याकृत है। इस प्रकार उपाधियों के त्रिविध होने से व्यष्टिसमष्टि उपाधि वाले जीव एवं ईश्वर भी तीन-तीन होते हैं। उनमें से स्थूल व्यष्टि उपाधि वाले जीव को 'विश्व', सूक्ष्म व्यष्टि उपाधि वाले जीव को 'तैजस' तथा अव्याकृत या कारणशरीर के अभिमानी जीव को 'प्राज्ञ' कहा जाता है[1]। इसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण समष्टि उपाधि के कारण ईश्वर को क्रमशः 'विराट्', 'हिरण्यगर्भ' तथा 'ईश' कहते हैं।[2]

जाग्रत्-अवस्था :-- जीव की जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति-ये तीन अवस्थाएँ भी इन्हें विवरणार्थ मान्य है। कारणभूता अविद्या, उसके परिणाम अन्तःकरण (सूक्ष्म) तथा स्थूल शरीर-इन तीनों उपाधियों वाले जीव को 'विश्व' कहा जाता है। विश्व 'जाग्रत् अवस्था' का अभिमानी होता है[3]। विश् धातु प्रवेशार्थ है और चूँकि स्थूलशरीरपर्यन्त जीव का प्रवेश जाग्रदवस्था में होता है, इसलिये उसको 'विश्व' कहते हैं।[4] यह स्थूल विषयों का भोक्ता होता है। जाग्रत्

1- जीवोऽपि त्रिविधः, स्वोपाध्यवान्तरभेदेन विश्वतैजसप्राज्ञभेदात्। सि० बि०
पृ० 153 ;

2- तत्रेश्वरोऽस्त्रिविधः। स्वोपाधिभूताविद्याभूतत्रय भेदेन विष्णुब्रह्मरुद्रभेदात्।
वही 151 ;

3- तत्राविद्यान्तःकरणस्थूलशरीरावच्छिन्नो जाग्रदवस्थाभिमानी विश्वः।
वही पृ० 152 ;

4- स च देहेन्द्रियादिषु प्रवेशाद् व्याप्तत्वाद्वा विश्व इत्युच्यते।
विश्प्रवेशने विष्लव्याप्तौ इति ... । वही पृ० 174 ;

अवस्था में जीव स्थूल विषयों को भोगता है और भोग उत्पन्न करने वाले कर्मों का कुछ समय के लिये क्षय होने पर द्वितीयावस्था अर्थात् स्वप्नावस्था में सूक्ष्म भोगों को भोगने के लिये निद्रावृत्ति में चला जाता है[1]।

स्वप्न-अवस्था :-- वही जीव जब जाग्रदवस्था के भोगों से थक कर निद्रा-वृत्ति को प्राप्त करता है तो वह कारण तथा सूक्ष्म शरीरों से युक्त 'तैजस' संज्ञा वाला होकर स्वप्नावस्था का अभिमानी हो जाता है[2] इस स्थिति में वह सूक्ष्म विषयों का भोग करता है। आदित्यादि देवता जाग्रत्काल में जीवों के सुख-दुःख के भोग के लिये शरीर में स्थित इन्द्रियों की सहायता करते हैं तथा स्वप्नकाल में जीव के केवल सूक्ष्म देहाभिमानी होने के कारण इन्द्रियस्थ देवता सहायक नहीं होते हैं। इस अवस्था में इन्द्रियाँ तो रहती हैं पर वे निर्व्यापार होती हैं।[3]अतः तैजस नामक भोक्ता स्वाप्निक पदार्थों का ही भोग करता है[4]।

सुषुप्ति-अवस्था :-- स्थूल शरीर और अन्तःकरण रूप दो उपाधियों से रहित अन्तःकरण के संस्कारों से अवच्छिन्न अविद्या मात्र से उपहित सुषुप्तिअवस्था के

1- एवं जाग्रद्भोगजनककर्मक्षये स्वाप्नभोगजनककर्मोदये च सतिनिद्राख्ययातामस्या वृत्त्या स्थूलदेहाभिमाने दूरीकृते· · ·तदा च स्वप्नावस्था।
सि०बि० पृ० 176 ;

2- स एव स्थूलशरीराभिमानरहित उपाधिद्वयोपहितः स्वप्नाभिमानी तैजसः।
वही पृ० 155 ;

3- स्थूलदेहाभिमाने दूरीकृते सर्वेन्द्रियेषु देवतानुग्रहाभावात् निर्व्यापारतया·· ··· ·तदा च स्वप्नावस्था। वही पृ० 176 ;

4- अत्र च स्वाप्निकपदार्थ भोक्ता तैजस इत्युच्यते। वही पृ०194 ;

अभिमानी चैतन्य को 'प्राज्ञ' कहते हैं। प्रकर्षेण (अत्यन्त) अज्ञ होने के कारण अथवा आत्मस्वरूप सम्पत्ति (प्रज्ञा) को सुषुप्ति-अवस्था में प्राप्त करने के कारण जीव 'प्राज्ञ' कहलाता है[1]। जाग्रदवस्था एवं स्वप्नावस्था के भोगों से परिश्रान्त होकर 'प्राज्ञ' संज्ञा वाला जीव कारण शरीर से युक्त 'सुषुप्तिअवस्था' को प्राप्त करता है। इसे जीव का विश्राम-स्थान कहा जाता है, क्योंकि इस समय जीव मात्र अज्ञान में ही लीन रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसे किसी प्रकार का ज्ञान सुषुप्ति में नहीं होता। फिर भी अविद्या को साक्ष्याकार सुखाकार तथा अज्ञानाकार - इन तीनों वृत्तियों के कारण सोकर उठने के पश्चात् स्मृतिरूप में ज्ञान होता है[2]।

'सुखमहमस्वाप्सम्' सोकर जागने के पश्चात् (मैं सुख पूर्वक सोया) इस अनुभव के सम्बन्ध में मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि सुषुप्ति अवस्था में तामसी वृत्ति की निवृत्ति हो जाती है। जाग्रत् अवस्था में विशेषणभूत तामसी वृत्ति की निवृत्ति होने पर तामसी-वृत्तिविशिष्ट अज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है। इस का निष्कर्ष यह है कि सुषुप्तिकालिक तामसीवृत्तिविशिष्ट अज्ञान के सम्बन्ध में उक्त परामर्श को 'स्मृति' कहते हैं। इसके विपरीत

1- शरीरान्त:करणोपाधिद्वयरहितोऽन्त:करणसंस्कारावच्छिन्नाविद्यामात्रोपहित:सुषुप्त्यवस्थाभिमानी प्राज्ञ: । सि०बि० पृ० 153 ;

2- एवं जाग्रत्स्वप्नभोगद्वयेन श्रान्तस्य जीवस्य तदुभयकारणकर्मक्षये ज्ञानशक्ति अवच्छिन्नस्य सवासनान्त:करणस्य कारणात्मनाऽवस्थाने सति विश्रामस्थानं सुषुप्त्यवस्था । न किञ्चिदवेदिषमितिकारणमात्रोपलम्भ: सुषुप्ति । तत्र जाग्रत्स्वप्नभोग्यपदार्थं ज्ञानाभावेऽपि साक्ष्याकारं सुखाकारमवस्था - ज्ञानाकारं चाविद्याया वृत्तित्रयमभ्युपेयते । सि०बि० पृ० 196 ;

सुषुप्ति अवस्था को अज्ञानानुभव मानने पर परामर्श को ' स्मृति ' नहीं कह सकते हैं । इसका कारण है कि जाग्रत् अवस्था में भी अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती । अज्ञान की निवृत्ति न होने पर ' मैं सुख पूर्वक सोया ' इस भूतकालिक अनुभव का स्मरण नहीं हो सकता[1] । सुषुप्त्यवस्था के भोक्ता प्राज्ञ के विषय में वर्णन करते हुए मधुसूदन सरस्वती का कथन है कि सुषुप्ति अवस्था में अन्त:करण का विलय हो जाने से जीव के अभाव का प्रसङ्ग न उपस्थित हो इसलिये अन्त:करण के संस्कार अविद्या में विद्यमान रहते हैं- ऐसा मानना चाहिए । इन संस्कारों से अवच्छिन्ना अविद्या ही इस अवस्था में जीव की उपाधि बनती है । प्राज्ञ इस अवस्था में ' आनन्द ' (सुखदु:खाकार वृत्ति) में लीन रहता है ।यही इसका भोग है[2]।

सुषुप्तिकाल में अहंकार का अभाव होता है[3]।सोकर उठने के पश्चात् ज्ञान की स्मृति आदि होने का कारण यह है कि ' साक्षी 'नामक चैतन्य सुषुप्ति के समय भी रहता है जबकि ' प्राज्ञ ' किसी भी ज्ञान प्राप्ति में असमर्थ होता है । जाग्रत् तथा स्वप्न में 'विश्व ' तथा ' तैजस ' -संज्ञक जीवचैतन्य ही ज्ञान प्राप्त करता है[4]। विश्व,तैजस तथा प्राज्ञ संज्ञक जीवों का निरीक्षण करने वाला तथा इन तीनों में अनुगत, अनुस्यूत, ' तुरीय ' नामक साक्षि चैतन्य एक ही है ।

1- अद्वैत वेदान्त - राममूर्तिशर्मा पृ० 180 ;

2- तदेवं सुषुप्त्यवस्थायामस्त्यानन्दभोग: ।तद्भोक्ता च सुषुप्त्यवस्थाभि - मानी प्राज्ञइत्युच्यते । .... .तदा चाऽन्त:करणस्य लयेऽपि तत्संस्का- रेणावच्छेदान्न जीवभावप्रसङ्ग । सि०बि० पृ० 218 ;

3- अहङ्काराभावाच्च . . .. .। सि०बि० पृ० 198 ;

4- साक्षी तु सर्वानुसन्धाता सर्वानुगतस्तुरीयाख्य एकविध एव । तत्रोपाधिभेदेनापि न क्वचिद् भेद:,तदुपाधेरेकरूपत्वात् ।
वही पृ० 153 ;

इसमें उपाधि-भेद से भी भेद नहीं हो सकता है क्योंकि इसकी एक ही उपाधि है । अर्थात् चैतन्य में साक्षित्व का आपादक उपाधिरूप सत्वगुण सब जगह एक रूप ही है । साक्षित्व चैतन्यमात्र का धर्म होने के कारण उपाधि का सन्निधान होने पर भी साक्षी के स्वरूप में भेद नहीं हो सकता ।

जीव का स्वरूप :-- ईश्वर तथा जीव में औपाधिक भेद ही है ।वस्तुत: तो ये दोनों ही शुद्ध पारमार्थिक,अकर्ता,अभोक्ता और चैतन्य रूप से एक और अभिन्न हैं । जब चैतन्य अज्ञानजन्य अन्त:करण तथा उसके संस्कारों से अवच्छिन्न अज्ञान से उपहित होता है तब वह 'जीव' की संज्ञा वाला हो जाता है । मधुसूदन सरस्वती जीव को ' ज्ञाता ' तथा ' ज्ञ ' दोनों ही मानते हैं क्योंकि परमार्थत: निर्धर्मक परमानन्द एवं बोधरूप होने पर भी लोकव्यवहार बनाये रखने के लिये उपाधि से उपहित होने पर अज्ञानी,सुखदु:खादि से युक्त तथा विषयों का कर्ता- भोक्ता कहा जाता है । बुद्धि से अविच्छन्न होने के कारण परिच्छिन्न जीव के लिये प्रमाण तथा प्रमेय की व्यवस्था स्वीकार की गयी है, जबकि सर्वज्ञ तथा सर्व प्रकाशक ईश्वर के लिये नहीं ।[1]

जीव का जगत् से सम्बन्ध तथा जगत् की सत्ता :-- दृष्टिसृष्टिवाद के समर्थक होने पर भी मधुसूदन सरस्वती के द्वारा विश्वोत्पत्ति का निमित्तोपादान

1- तेन तत्र न मानमेयादिव्यवस्था । किन्तु जीवे ।
तस्य बुद्ध्यवच्छिन्नत्वेन परिच्छिन्नत्वात् ।।
सि बि० पृ० ९३ ;

कारण ' ईश्वर ' को ही माना गया है जीव को नहीं । उनका कथन है कि जीव केवल प्रातिभासिक सत्ता वाले पदार्थों की उत्पत्ति कर सकने में समर्थ है । सूक्ष्म महाभूतों से लेकर मूर्त व्यावहारिक सत्ता वाले समस्त पदार्थों का सृजन करने की क्षमता (ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ या ईश इत्यादि) समष्टि अभिमानी ईश्वर में ही है, व्यष्टि अभिमानी जीव में नहीं । ईश्वर द्वारा रचित जगत् का जीव ही उपभोग करता है । प्रतिबिम्ब स्थानीय होने के कारण प्रातिभासिक विश्वादि जीव द्वारा उत्पन्न विश्व प्रातिभासिक ही होता । उससे मनुष्य के मोक्षादि कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकते । अतएव स्थूल जगत् की व्यावहारिकता को बनाये रखने के लिये जगत् तथा उसमें दृश्यमान् पदार्थों का सर्जक ईश्वर को ही मानना चाहिये और जीवों को उसका भोक्ता मात्र ही स्वीकार किया जाना चाहिए । मधुसूदन ने जगत् की प्रातिभासिक सत्ता के साथ-साथ व्यावहारिक सत्ता को भी स्वीकार किया है । इसके अतिरिक्त ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता तो है ही[1]।

<u>एकजीववाद :--</u> मधुसूदन सरस्वती एकजीववाद के समर्थक हैं ।[2]सिद्धान्त बिन्दु नामक ग्रन्थ में उन्होंने जीवों की एकता तथा अनेकता पर अनेक -

---

1- अविद्यातद्वयाप्यतत्कार्यात्मकः प्रप वो दृश्यपदार्थः तस्य चापारमार्थिकत्वे पि व्यावहारिकसत्ताभ्युपगमान्न स्वाप्निकपदार्थवन्निरूपणं व्यर्थम् ।उपासनादौ तदुपयोगादिति ।
सि0 बि0 पृ0 155 ;

2- स च दृष्टैक एव तन्नानात्वे मानाऽभावात् ।अ0सि0पृ0 539 ;

मतमतान्तरों को संकलित किया है । जीव के सम्बन्ध में उनकी व्यक्तिगत आस्था दृष्टिसृष्टिवाद में प्रचलित एकजीववाद में ही है । उनके अनुसार दृष्टिसृष्टिवाद में स्वीकृत एकजीववाद ही वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त है[1]। एकजीववाद के सम्बन्ध में यदि यह शङ्का हो कि ' मैं सुखी हूँ ' - ऐसा अनुभव एक व्यक्ति को होता है तो दूसरा उस समय दुःखी होने का अनुभव क्यों करता है ? या तीसरा व्यक्ति उस समय क्यों सोया रहता है ? एक ही जीव में विभिन्न प्रकार के अनुभव कैसे सम्भव हो सकते हैं ? इसका समाधान करते हुए उन्होंने बताया कि अविद्या के एक होने के कारण उसमें एक ब्रह्म जीवरूपता को प्राप्त करता है । वही ' मुख्य जीव ' कहा जाता है । वही मुख्य जीव जब भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित होता है ,तो उसको अपने शरीर में ' अहं बुद्धि ' होती है । इस प्रकार जीव एक होकर भी अनेक दृष्टिगोचर होता है[2]।

जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध :-- जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में मधुसूदन सरस्वती आचार्य शङ्कर के मत को ही मानते हैं । जीव और ब्रह्म में वास्तविक रूप से अभेद मानने पर भी उनमें औपाधिक भेद तो दोनों को ही मान्य है । जीव परमार्थतः ब्रह्मरूप होने पर भी अविद्या के वशीभूत होकर अज्ञानोपाधि से उपहित होकर जीवत्वप्राप्त करता है । इस प्रकार जगद्व्यवहार के संचालन के लिये जीवब्रह्म के मध्य औपाधिक भेद कल्पित किया गया है ।

1- अज्ञानोपहितं च जीवं इति वा मुख्यो वेदान्तसिद्धान्त एकजीववादाख्यः। इममेव च दृष्टिसृष्टिवादमाचक्षते । सि०बि० पृ० 83 ;

2- देहभेदाच्च जीवभेदभ्रान्तिः । वही पृ० 83 ;

मुक्ति तथा उसके प्रकार एवं साधन :--

जीव का आत्मसाक्षात्कार के द्वारा अविद्या के बन्धनों सेसदा सर्वदा के लिये मुक्त हो जाना ही जीव का 'मोक्ष' कहलाता है । सांसारिक दु:खसुख के अभाव को ही 'मुक्ति' कहा जाता है । मुक्त पुरूष को संसार-दशा में न प्राप्त होने वाली परमानन्दरूपता की प्राप्ति हो जाती है ।

मधुसूदन सरस्वती ने मुक्ति के दोनों प्रकार स्वीकार किये हैं । §1§ क्रममुक्ति तथा §2§ सद्योमुक्ति । इन्होंने सद्योमुक्ति के अन्तर्गत 'जीवन्मुक्ति' को भी अङ्गीकृत किया है ।

क्रममुक्ति :--

क्रममुक्ति का अर्थ है धीरे-धीरे मुक्त होना ।एकता की भावना करने से हिरण्यगर्भ -लोक की प्राप्ति होती है । और वहाँ अन्त:करणशुद्धिद्वारा ब्रह्मलोकाध्यक्ष के साथ क्रममुक्ति होती है[1]। आत्मा की एकता की भावना के अभ्यास से उत्तरोत्तर क्रम से मूर्त और अव्याकृत के मिथ्यात्व का निश्चय करके जब आत्मसाक्षात्कार सुदृढ हो जाता है, उस समय इस पुरूष के सब दोष दूर हो जाते हैं, सत्यलोक में जाकर शुद्धान्त:करण प्रलय के समय मूर्त अमूर्त पदार्थों के विलय को देखने के पश्चात् उस पुरूष के मिथ्यात्व का संस्कार अत्यन्त दृढ हो जाता है ।वहाँ अभिमान नष्ट हो जाने से वह बन्धनमुक्त हो जाता है[1] कार्य - ब्रह्म की उपासना से प्राप्त ब्रह्मलोक में उपासक ईश्वरीय सुख तथा ऐश्वर्य का भोग करता है और वहीं पर उसे क्रमश: निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान होता है । तब वह वहीं ब्रह्म - रूप हो जाता है ।

1- एतेषामैक्योपासनया हिरण्यगर्भलोकप्राप्ति: ।अन्त:करणशुद्धिद्वारा - क्रममुक्तिश्च । सि0 बि0 पृ0 230 ;

सद्योमुक्ति :-- 'सद्योमुक्ति' को प्राप्त करने के लिये विद्वान् को किसी भी प्रकार की उपासना न करके आचार्य द्वारा उपदिष्ट 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा ज्ञान का निरन्तर उत्कर्ष करना होता है । साक्षिचैतन्य के तत्त्व-ज्ञान से ही जीव 'मुक्त' होता है । आत्मसाक्षात्कार के पश्चात् तत्काल ही विद्वान् की मुक्ति हो जाती है ।

इस समय मुक्तपुरुष के संचिततथा क्रियमाण कर्म तो ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाते हैं किन्तु प्रारब्ध कर्म ज्ञान से नष्ट नहीं होते हैं ।ये वे कर्म हैं जो जीव के 'जन्म आयु तथा भोग' रूप (ये तीन प्रकार के) फल देना प्रारम्भ कर चुके होते हैं । कुम्हार के चक्र के वेग के समान इनका वेग तभी समाप्त होता है जब ये कर्म योग के द्वारा समाप्त हो जाते हैं ।प्रारब्धकर्मों के नष्ट होने पर जीव की पूर्णरूपेण मुक्ति हो जाती है । इसे 'विदेहमुक्ति' कहते हैं तथा प्रारब्धकर्मों के नाश के पूर्व की स्थिति को 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं।अतः जीवन्मुक्ति में आत्मज्ञानप्राप्ति से जीव मुक्त तो हो जाता है किन्तु प्रारब्धकर्म वशात् शरीर धारण किये रहने के लिये वह विवश रहता है ।प्रारब्धकर्म की समाप्ति होने पर देहपात के अनन्तर विदेहमुक्ति होती है ।

1- एतत्सर्वोपाधिनिराकरणेन साक्षिचैतन्यमात्रज्ञानेन तु साक्षादेव मोक्ष इति ।
सि० बि० पृ० 230 ;

चित्सुखाचार्य :--[1220ई॰][1]

अद्वैतमतावलम्बी आचार्य चित्सुख न्यायदर्शन का खण्डन तथा अद्वैतदर्शन का समर्थन करते हैं। इनके अनुसार साक्षी एवं प्रमाता में भेद है। चित्सुख साक्षी को स्वतन्त्र एवं केवल द्रष्टा मानते हैं, परन्तु प्रमाता परतन्त्र, ज्ञाता तथा ज्ञान के साधनों के अधीन होता है।

समस्त प्रतीयमान प्रपञ्च का मिथ्यात्व चित्सुखाचार्य को भी मान्य है। ये ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय एवं विषय दोनों स्वीकार करते हैं। ब्रह्म ही अविद्या के वश में होकर संसार में संसरण करता है तथा ज्ञान प्राप्त होने पर मुक्त हो जाता है। मुक्ति के विषय में इन का कथन है कि जीव का मोक्ष ज्ञान से ही होता है, कर्म से नहीं। अन्य आचार्यों की भाँति ये भी जीव की जीवन्मुक्ति की अवस्था को मानते हैं। प्रारब्ध भोग के पश्चात् ही जीव पूर्ण मुक्ति को प्राप्त करता है[1]।

1- न च लेशस्यापि विरोधिस्तत्त्वज्ञानान्निवृत्तिः किं न स्यादिति वाच्यम्; प्रबलैः प्रारब्धकर्मभिर्ज्ञानस्यप्रतिबद्धत्वात् । चि0 पृ0 607 ;

आभासवाद तथा प्रतिबिम्बवाद में कुछ अन्तर इस प्रकार हैं :--

§1§ आभास के लिये गुण या प्रकार की अपेक्षा होती है जैसे कि स्फटिक में आभासित रक्तिमा ' गुण ' है, जबकि प्रतिबिम्ब में गुण विशिष्ट द्रव्य या वस्तु की आवश्यकता होती है ।

§2§ आभास में उपाधि §जपाकुसुम § अपने गुण से पूरे उपधेय §स्फटिक§ को व्याप्त कर लेती है और प्रतिबिम्ब में एक भाग आच्छादित होता है[1]।

§3§ प्रतिबिम्ब वास्तविक रूप से बिम्बरूप है अन्य वस्तु नहीं अत: बिम्ब रूप होने के कारण आभास की अपेक्षा अधिक सत्य है जबकि आभास बिंब से भिन्न होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या, किन्तु लक्ष्यत्वेन सत्य है । स्फटिक में आभासित रक्तिमा के समान जीव भी आभासरूप होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है[2]।

§4§ उसआभास्यमान §रक्तिमा§ की उपाधि§जपाकुसुम§ से न तो भिन्नता कही जा सकती है और न अभिन्नता ही उसमें केवल आभास मात्र ही दिखायी देता है परन्तु प्रतिबिम्ब में तो बिम्ब के साथ समानरूपता दिखायी पड़ती है ।

§5§ आभासवाद में उपाधि §जपाकुसुम§ अपने गुण §रक्तिमा § को अपने से भिन्न सत्ता वाले उपधेय§स्फटिक§ में दिखाता है,परन्तु प्रतिबिम्बवाद में तो उपाधि

1- महामहोपाध्याय वासुदेव शास्त्री कृत ' सिद्धान्त-बिन्दु ' पृ017-18 ;

2- भा0त0वि0प्र0का तु0अ0 पृ0 88 ;

§दर्पण§ अपने उपधेय §मुख§ को ही अपने में प्रदर्शित करती है । बुद्धि तथा चैतन्य के दृष्टान्त में इस प्रकार कहा जा सकता है कि अविद्या अथवा अन्तःकरण §उपाधि§ अपने § अन्तर§ में प्रतिबिम्बित चैतन्य को दिखलाती है ।

§6§ आचार्य सुरेश्वर के अनुसार जैसे मुख का आभास या छाया मुख से भिन्न होती है उसी प्रकार ब्रह्म का आभास जीव भी ब्रह्म से भिन्न होता है । और आभास या छाया मिथ्या ही होती है इसलिये जीव का मिथ्यात्व भी सिद्ध है ।

§7§ प्रतिबिम्बवाद में जीव और ब्रह्म का अभेद होता है और भेद मिथ्या होता है । आभासवाद में तो जीव का मिथ्यात्व तथा ब्रह्म की सत्यता ही होती है ।

§8§ आचार्य कहते हैं कि समष्टिमाया में ब्रह्म का आभास ' ईश्वर ' कहलाता है तथा व्यष्टि अविद्या में ब्रह्म का आभास ' जीव ' कहलाता है । ईश्वर की उपाधि शुद्धसत्त्वगुण होता है जिससे ईश्वर को सर्वज्ञत्व तथा सर्वशक्तित्वादि गुण प्राप्त होते हैं । जबकि मलिनसत्त्वगुण जीव की उपाधि बनता है,जिसके कारण उसमें अल्पज्ञत्व तथा अल्पशक्तित्व आदि दोष रहते हैं ।

§9§ प्रतिबिम्बवाद के अनुसार अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ,ब्रह्म से पृथक् न होने के कारण सत्य है,भले ही वह प्रतिबिम्ब होने के कारण पारमार्थिक सत्य न होकर व्यावहारिक ही हो परन्तु आभासवाद में अविद्या के कारण मूल सत्य ब्रह्म में जिस जगत् की प्रतीति होती है वह आभास मात्र

होने के कारण सत्य नहीं कही जा सकती है । इसे आभासमात्र या प्रातिभासिक सत्ता वाला ही कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि जगत् को ' आभासमात्र ' कह कर आचार्य ने जगत् की व्यावहारिक सत्यता का भी निराकरण किया है ।

§10§ प्रतिबिम्बवाद की दृष्टि से प्रतिबिम्ब हमेशा सत्य होता है परन्तु जगत् - प्रतीति के सन्दर्भ में यह अज्ञान के कारण ही असत्य प्रतीत होता है । आभास चूँकि सर्वदा असत्य होता है इसलिये यहाँ भी असत्य है ।

§11§ प्रतिबिम्ब के बिम्ब से भिन्न न होने के कारण चेतन ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ' जीव ' भी चेतन ही होगा अचेतन नहीं । परन्तु आभासवाद में आचार्य सुरेश्वर के मत के अनुसार यद्यपि प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न होता है तथापि शुक्ति - रजत की भाँति प्रातिभासिक तथा अनिर्वचनीय प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति होती है ।

इस प्रकार आचार्य सुरेश्वर ने आभासवाद सिद्धान्त के आधार पर ही अपने गुरू शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद को पल्लवित किया ।

वाचस्पति मिश्र :— [840 ई॰]

अवच्छेदवाद :--

आभासवाद तथा प्रतिबिम्बवाद के अतिरिक्त अवच्छेदवाद (जिसे अंशवाद भी कहते हैं) का मूल भी शङ्कराचार्य कृत भाष्यों में देखा जा सकता है। इस मत को विकसित करने का श्रेय वाचस्पतिमिश्र को जाता है। वाचस्पति ने इसमत को घटाकाश, एवं महाकाश के दृष्टान्त द्वारा प्रस्तुत किया है।

जीवकास्वरूप —

वाचस्पति मिश्र का कथन है कि अन्त:करण से अवच्छिन्न चैतन्य 'जीव' तथा अविद्या से अवच्छिन्न चैतन्य 'ईश्वर' है अर्थात् जीव की उपाधि 'अन्त:करण' तथा ईश्वर की उपाधि 'अविद्या' बनती है। अवच्छेदवादियों के मत में अखण्ड ब्रह्म की सखण्ड अभिव्यक्ति ही 'जीव' नाम से कही जाती है। इन दोनों के मध्य का अभेद सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार घटाकाश तथा महाकाश में है। जैसे अनन्त तथा अखण्ड आकाश घटादि से अवच्छिन्न होकर 'घटाकाश' नाम वाला हो जाता है वैसे ही सच्चिदानन्द स्वरूप निर्गुण ब्रह्म अन्त:करणादि से अवच्छिन्न होने पर 'जीव' कहा जाता है।

आचार्य ने अवच्छेदवाद के समर्थन में ब्रह्मसूत्र के 'अंशोनाना व्यपदेशात् (2/3/43) तथा गीता के " ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: " (15/7) इन दो उद्धरणों को प्रस्तुत किया है। इन दोनों उदाहरणों से जीव, ब्रह्म का अंश ही सिद्धहोता है।

इनकी मान्यता है कि अज्ञान के सम्बन्ध से ही जीव स्व (ब्रह्म)रूप को नहीं पहचानता है । अज्ञान अनादि तथा अनेक हैं । अज्ञानावच्छिन्न ब्रह्म ही ईश्वर है । अज्ञान की अपेक्षा अन्य कोई माया नहीं है इसलिये अज्ञान ही ईश्वर की उपाधि है । अज्ञाना विषयता -सम्बन्ध से ईश्वर के स्वरूप का अवच्छेदक है और आश्रयता-सम्बन्ध से जीव के स्वरूप का अवच्छेदक है अर्थात् अज्ञान का विषयभूत चैतन्य ' ईश्वर ' तथा अज्ञान का आश्रयभूत चैतन्य ' जीव ' कहलाता है[1]। अज्ञान के अनेक होने के कारण जीवों का नानात्व भी सिद्ध होता है । आचार्य वाचस्पति ने चैतन्य के दो ही उपलभ्यमान रूप माने हैं जीव तथा ईश्वर ।

जगत् के उपपादन के लिये शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त मायोपाधिक चैतन्य (ईश्वर) की कल्पना आवश्यक है । उनके इस मत में जगत् की सृष्टि जीवकृत ही है ।अज्ञान के विषयभूत शुद्ध चैतन्य को ही आचार्य ने ' ईश ' कहा है और यही ईश्वर परामिहित शुद्धचित,नाना प्रकार के जीव तथा उनकी नाना प्रकार की अविद्या और उनके कार्यभूत नाना प्रकार के प्रपञ्च- इन सभी की अधिष्ठान भूत है । इसलिये उपचार से वह जगत् का कारण कहा जाता है । जीवों के अनेक होने के कारण प्रत्येक जीव का प्रपञ्च भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है ।वाचस्पतिमिश्र के जीवाश्रिताविद्यावाद के सम्बन्ध में जो अनेक विचारकों का मत है कि उनके इस सिद्धान्त ने ' दृष्टिसृष्टिवाद ' की प्रतीक्त

1- अज्ञानविषयीभूतं चैतन्यमीश्वरः । अज्ञानाश्रयीभूतं च जीवः ।

सि0 बि0 पृ0 60 ;

होती है तथा जगत् के कारण के रूप में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती । इस विषय में मिश्र जी का कथन है जीवाविद्यादिक सकल प्रपञ्च का अधिष्ठान ब्रह्म है जीव नहीं है । जैसे रजतादि विवर्तों का अधिष्ठान शुक्ति आदि है वैसे ही सकल प्रपञ्च का अधिष्ठान ब्रह्म है[1]। इस प्रकार भामतीकार ने स्पष्ट शब्दों में प्रपञ्च विभ्रम का उपादान कारण ईश्वर को ही माना है । अतएव उनके मत में दृष्टिसृष्टिवाद एवं वैयक्तिक विज्ञानवाद की शङ्का सर्वथा निर्मूल एवं निराधार है । यह जीव 'कार्योपाधि' तथा ईश्वर 'कारणोपाधि' कहा जा सकता है ।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म अखण्ड होते हुए भी उपाधि से परिच्छिन्न होने पर जीवरूपता को प्राप्त होता है । जीव और ईश्वर दोनों में अभेद होने पर भी उपाधि के कारण भेद दृष्टिगत होता है । यह भेद अग्नि तथा चिंगारी के सदृश ही होता है ।

अवच्छेदवाद में बुद्धि या अन्तःकरण ही चैतन्य का अवच्छेदक या विशेषण बनता है । अज्ञान की समष्टि से अवच्छिन्न चैतन्य 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है तथा अज्ञान की व्यष्टियों से अवच्छिन्न चैतन्य 'जीव' कहलाते हैं । विशेषण तथा विशेष्य का यह सम्बन्ध वास्तविक न होकर अविद्या से उत्पन्न

1- अधिष्ठानं हि ब्रह्म न जीवाः अधिष्ठाने च समन्वय इत्युक्तम् । अधिष्ठानं विवर्तानामाश्रयो ब्रह्म शुक्तिवत् जीवाविद्यादिकानां स्यादिति सर्वमनाकुलम् ।। { वे0क0 पृ0 404 }

होता है[1]। जिस प्रकार आकाश से घट का न कोई वास्तविक सम्बन्ध होता है और न ही घट से आकाश कभी परिच्छिन्न ही होता है । फिर भी घटाकाश और महाकाश आदि रूप से आकाश को अभिहित किया जाता है ।ठीक इसी प्रकार से उपाधियों के साथ चैतन्य का वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता ।वस्तुत: विचार करने पर अविद्यादि उपाधिगत चैतन्य का परिच्छिन्नत्व भी असम्भव होता है । ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर अवच्छेदक तिरोहित हो जाता है तब भेद-बुद्धि भी नष्ट हो जाती है उस समय जीव ब्रह्मरूप हो जाता है ।

' न स्थानतोऽपि '[2]तथा ' अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् '[3] इन सूत्रों के भाष्यों में आचार्य शङ्कर ने प्रतिबिम्बवाद का निराकरण किया है । प्रतिबिम्बवादियों का कथन है कि ' अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् '[4]सूत्र के भाष्य में जलसूर्यक दृष्टान्त के द्वारा आचार्य शङ्कर ने प्रतिबिम्बवाद को सिद्ध किया है । अवच्छेदवादियों का कहना है कि ' अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ' इस उत्तर सूत्र में भाष्यकार ने सर्वगत आत्मा के प्रतिबिम्बत्व का निराकरण किया है । उनका अभिप्राय यह है कि जैसे सूर्य जल में प्रतिबिम्बित होकर जलगतकम्पनादि उपाधियों के अधीन होता है,उसी प्रकार ब्रह्म भी अन्त:करणादि उपाधियों से

1- शा0वे0तत्त्व मी0 पृ0 110 ;

2- ब्र0सू0 शा0 भा0 3/2/11 ;

3- वही 3/2/19 ;

4- वही 3/2/18 ;

अवच्छिन्न होकर उनके अधीनस्थ रहकर तद्गतसुखदु:खादि को भोगता है । इसी प्रकार से 'आभास एव च'[1] सूत्र के भाष्य में प्रस्तुत शाङ्करमतानुसार जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं समझा जाना चाहिए । 'मायोपाधिर्जगद्योनि:' तथा 'कार्योपाधिरयं जीव: कारणोपाधिरीश्वर:' इन वाक्यों से अवच्छेदवाद की सिद्धि होती है । आचार्य वाचस्पतिमिश्र ने अवच्छेदवाद का आश्रय लेकर प्रतिबिम्बवाद का निराकरण किया है । उनके अनुसार अन्त:करणरूप उपाधि के नीरूप होने के कारण उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है । प्रतिबिम्बपात के लिये जहाँ बिम्ब का रूपवान् होना आवश्यक है,वहाँ प्रतिबिम्बोपाधि का भी रूपवान् होना आवश्यक है । चूँकि चिदात्मा रूपहीन विषयी है,इसलिये विषय §उपाधि§ में उसका प्रतिबिम्ब पड़ना सम्भव नहीं है । भामती में आचार्य ने कहा है कि 'शब्दगन्धरसादीनां कीदृशी प्रतिबिम्बता'[2] । इस आधार पर प्रतिध्वनि को ध्वनि का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता है,क्योंकि प्रतिध्वनि शब्द - विशेष या ध्वन्यन्तर है । इसका उत्पादक या उपादान कारण आकाश है तथा निमित्त कारण पूर्वध्वनि है ।अतएव यह पूर्वध्वनि का प्रतिबिम्ब न होकर पूर्वध्वनि से उत्पन्न ध्वन्यन्तर ही है ।

कर्तृत्वभोक्तृत्व — भामती में आचार्य का कथन है कि जैसे घटाकाश महाकाश से अन्य §भिन्न§वस्तु नहीं है[3]तथा घटकरकादि से अवच्छिन्न आकाश की भाँति ही

1- ब्र0सू0शा0भा0 2/3/50 ।

2- भामती अ0भा0पृ0 8 ।

3- वही 3/2/9 ।

परमात्मा में भी जीवरूपता अविद्योपाधिमत है । वाचस्पति के मत में अनादि अविद्या के वश में आकर सच्चिदानन्द ब्रह्म देहेन्द्रियादि उपाधियों से अवच्छिन्न होकर जीवभाव को प्राप्त करता है । स्वप्रकाश,निर्गुण तथा निरंश ब्रह्म अखण्ड, अनवच्छिन्न,अकर्ता तथा अभोक्ता होते हुए भी उपाधि के अधीन होने पर जीवरूपता को प्राप्त करके सखण्ड, अवच्छिन्न,विषयों का कर्ता तथा भोक्ता कहा जाता है । जिस प्रकार घटादि उपाधियों के सम्पर्क में आने पर अनन्त आकाश अखण्ड तथा अभिन्न होते हुए भी सखण्ड तथा भिन्नवत् प्रतीत होता है उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म भी बुद्धि,मन तथा देहेन्द्रियादि उपाधियों से परिच्छिन्न होकर तद्गत सुखदुःखादि धर्मों से युक्त प्रतीत होता है । अहं प्रत्ययी चिदात्मा ही कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व से युक्त प्रतीत होता है ।वस्तुतः उदासीन तथा निष्क्रिय आत्मा की क्रिया तथा भोग शक्ति सम्भव नहीं हो सकती है तथा जो बुद्धि आदि कार्यकारण संघात की क्रियाभोगशक्ति है वह भी चैतन्य नहीं है । इसलिये कार्यकरण संघात से युक्त चिदात्मा को ही क्रियातथा भोगशक्ति वाला माना जाना चाहिए । स्वयप्रकाश होते हुए भी वह बुद्धयादि के संयोग से विषयों का भोक्ता बन कर जीव तथा क्षेत्रज्ञादि संज्ञाओं से सम्बोधित किया जाता है[1]।

वास्तविकता तो यह है कि आचार्य वाचस्पतिमिश्र ने अवच्छेदवाद

1- भा० अ० भा० पृ० 3? ;

का आश्रय लेकर प्रतिबिम्बवाद का खण्डन नहीं किया ,प्रत्युत,पहले प्रतिबिम्बवाद को स्थापित करके तब अवच्छेदवाद का समर्थन किया है । इस प्रकार आचार्य ने मैत्री भाव से दोनों ही मतों का समाधान किया है ऐसा प्रतीत होता है । 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्न: '[1] इस सूत्र के भाष्य की टीका में वाचस्पतिमिश्र ने स्पष्टरूप से जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब कहा है । इन के अनुसार जिस प्रकार स्वच्छबिम्ब से प्रतिबिम्ब का तात्त्विक अभेद होने पर भी नीलमणि-कृपाण तथा काचादि विभिन्न उपाधियों में प्रतिबिम्बित एक ही मुख श्यामल,स्वच्छ,वृत्ताकार रूप में तथा दीर्घ रूप मे प्रतीत होता हुआ भेदबुद्धि को प्राप्त करता है । ठीक उसी प्रकार से शुद्ध स्वभाव वाले परमात्मा तथा जीव का अभेद होने पर भी उपाधि भेद से काल्पनिक भेदबुद्धि उत्पन्न हो जाती है और जीवशोक,दु:ख,जन्म मरणादि से युक्त माना जाने लगता है[2]। इसी प्रकार जैसे दर्पणादि उपाधियों को हटा लेने पर प्रतिबिम्ब का पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता है और वह बिम्ब रूप में ही शेष रहता है वैसे ही अविद्या रूप उपाधि के (ब्रह्मज्ञान से) विनष्ट हो जाने पर जीव,जीवरूप में न रहकर ब्रह्मरूप ही हो जाता है[3]। इस सूत्र के प्रसङ्ग में भी आचार्य वाचस्पति ने प्रतिबिम्बवाद का समर्थन ही किया है ।

मुक्ति :-- भामतीकार वाचस्पतिमिश्र के 'अवच्छेदवाद' के अनुसार अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य ही जीव है यह न तो विवरणकार के अनुसार चैतन्य का

1- ब्र०सू० 1/4/22 ·

2- शा०वे०त०मी० पृ० 115 ·

3- भामती 2/3/43 ·

प्रतिबिम्ब है और न ही वार्तिककार के अनुसार चैतन्य का आभास ही । अवच्छेदवादियों के अनुसार अवच्छिन्न एवं सान्त जीव की अनवच्छिन्न एवं अनन्त ब्रह्मरूप से अवस्थिति ही 'मुक्ति' है ।

आचार्य मुक्तावस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जैसे दर्पणगत मुख-प्रतिबिम्ब दर्पण को हटाने पर बिम्बरूप से स्थित रहता है उसी प्रकार से जीव अविद्या रूप उपाधि के विनष्ट होने पर ब्रह्मरूप हो जाता है ।

सुरेश्वराचार्य की भाँति वाचस्पतिमिश्र ने भी 'जीवन्मुक्ति' का समर्थन तथा 'सद्योमुक्ति' का खण्डन किया है । जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त में आचार्य का कथन है कि हिरण्यगर्भ, मनु, उद्दालक आदि देवर्षिगण तत्त्वज्ञानी होते हुए भी दीर्घजीवी थे[1]। इससे यही सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध-कर्मों के क्षय के लिये फलोपभोग की प्रतीक्षा करनी पड़ती है[2]।

प्रतिबिम्बवाद का भी समर्थक होने के कारण वाचस्पतिमिश्र को कुछ लोग प्रतिबिम्बवादी भी कहते हैं । परिमलकार ने समन्वयाधिकरण ग्रन्थ के उपसंहार में इन दोनों मतों की सविस्तार व्याख्या की है ।परन्तु उसमें वाच-स्पतिमिश्र का अवच्छेदवाद में ही आग्रह समुचित प्रतीत होता है ।

1- अन्यथा देवर्षीणां हिरण्यगर्भमनूद्दालक प्रभृतीनां विगलितक्लेशजालावरण-तयापरित:प्रद्योतमानबुद्धिसत्त्वानां न ज्योग्जीविता भवेत् ।
§ भामती·पृ0 958 §

2- तस्मादागमानुसारतोऽस्ति प्रारब्धविपाकानां कर्मणां प्रक्षयाय तदीयसमस्त-फलोपभोग प्रतीक्षा सत्यपि तत्त्वसाक्षात्कारे । वही पृ0 958 ;

विवरणकार ने अवच्छेदवाद में निम्नलिखित आक्षेप लगाये हैं कि अवच्छेदवाद से ब्रह्म का अन्तर्यामित्व नहीं सिद्ध हो सकता है। उनके अनुसार 'य आत्मानमन्तरीयमयति "(बृ. 3/7/22) श्रुति में ब्रह्म को जीवात्मा में अन्तर्यामी रूप से अवस्थित कहा गया है यह बात जीव को अन्तःकरणावच्छिन्न मानने पर सम्भव नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य रूपजीव में अनवच्छिन्न चैतन्यरूप ब्रह्म कैसे अवस्थित हो सकता है ? जैसे घट में घटावच्छिन्न आकाश की ही वृत्ति होती है, अनवच्छिन्न आकाश या महाकाश की नहीं। उसी प्रकार अवच्छिन्नजीव में अनवच्छिन्न चैतन्य की वृत्ति सम्भव ही नहीं है। अतः अवच्छेदवाद में द्विगुणित चैतन्य की वृत्ति सम्भव न होने से 'अन्तर्यामी०' की संगति नहीं होती है।

इसी प्रकार अवच्छेदवाद में एक दूसरे दोष को भी प्रदर्शित किया गया है कि घटावच्छिन्न आकाश तथा अनवच्छिन्न आकाश में आकाशगत कोई अन्तर नहीं है जब कि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य तथा अनवच्छिन्न चैतन्य में अन्तर है। अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य या जीव सुखदुःखादि से युक्त होता है। परन्तु प्रतिबिम्बवाद में इस दोष की प्रसक्ति नहीं होती है क्योंकि जल में प्रतिबिम्बित सूर्य भी ठीक उसी प्रकार से कम्पायमान होता है जैसे अविद्या-प्रतिबिम्बित चैतन्य आत्मा उपाधिगत दोषों से सम्बद्ध प्रतीत होता है।

आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेदवाद इन तीनों मतों में व्यावहारिक दृष्टि से विवरणकार द्वारा सम्मत प्रतिबिम्बवाद ही सर्वाधिक उचित एवं तर्कसंगत प्रतीत होता है । इन के मत में जीव को ईश्वर का प्रतिबिम्ब तथा स्वयं ईश्वर को बिम्ब रूप में स्वीकार किया गया है । यही तीनों वादों में सूक्ष्म भेद है । फिर भी अविद्योपहित परमात्मा वस्तुत: जीवात्मा नहीं हो जाता, बल्कि अविद्याग्रस्त के समान दिखायी पड़ता है । यही तीनों वादों का तात्पर्य है ।

प्रकाशानन्द :-- [1550-1600ई०]
--------- वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार जिस मत के प्रतिष्ठापक हैं उसको ' दृष्टिसृष्टिवाद ' का नाम दिया गया है । इस मत के अनुसार सम्पूर्ण जगत् की सत्ता ही दृष्टिमात्र है । प्रकाशानन्द यद्यपि अद्वैतवेदान्तशिरोमणि शङ्कराचार्य के अनुयायी थे, फिर भी उन्होंने जगत् की सत्ता को व्यावहारिक न मानकर प्रातिभासिक ही माना है । दृष्टिसृष्टिवादसिद्धान्त के अनुसार दृष्टि ही विश्वसृष्टि है, सम्पूर्ण जगत् प्रतीतिमात्र है । प्रकाशानन्द के अनुसार अज्ञान से उपहित बिम्बचैतन्य ' ईश्वर ' है । अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य 'जीव' है । अथवा अज्ञानोपाधिरहित शुद्ध चैतन्य 'ईश्वर' है और अज्ञानोपहित चैतन्य ' जीव ' है [1] । यहाँ जीव तथा ईश्वर के दो लक्षण देने का अभिप्राय यह है कि प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेदवाद दोनों की रीति से जीव और ईश्वर का स्वरूप दृष्टिसृष्टिसिद्धान्त को मान्य है ।

प्रकाशानन्द चैतन्य के दो ही रूप मानते हैं- ब्रह्म तथा जीव । इनमें से ब्रह्म या ईश्वर पारमार्थिक सत्ता वाला तथा जीव प्रातिभासिक सत्ता वाला है । उनका कथन है कि वस्तुतः एक ही नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव उपनिषन्मात्रगम्य है । वही अज्ञान का आश्रय लेकर देव, मनुष्य, पक्षी आदि देहों की कल्पना करता है तथा ब्रह्माण्डादि चतुर्दश भुवनों की सृष्टि करता है । इन भुवनों में किसी में देव, किसी में मनुष्य, किसी में हिरण्यगर्भ तथा रुद्र, विष्णु आदि होते

1- अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः । अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीवः । अथ वा अज्ञानानुपहितं शुद्धं चैतन्यमीश्वरः, अज्ञानोपहितं च जीव इति ।
सि० मि० पृ० 83 ;

हैं। उनकी उपाधि सत्त्वादि गुणात्मिका होती है। यह आत्मा ईश्वर होते हुए भी भ्रान्त होता है तथा "श्रवणमननानिदिध्यासन" और "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों से आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त करता है। तब वह अज्ञान और उसके कार्यों को उपसंहृत करके अपनी महिमा में स्थित होकर 'मुक्त' की संज्ञा वाला हो जाता है। यह ऐसी अवस्था है जिसमें किसी अन्य अज्ञात द्वैत का अनुभव नहीं होता है तथा उसके अतिरिक्त कोई संसारी भी नहीं होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अविद्या की उपाधि वाला चैतन्य ही 'ईश्वरशक्ति' से अभिहित किया गया है। प्रकाशानन्द का यह कथन है कि स्वतः असंसारी स्वभाववाला परमात्मा ही संसारी होकर जीवरूप से जाना जाता है। यहाँ जीव अपने आवरक अज्ञान से समस्त जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण कहलाता है[1]। दृश्यमान् समस्त प्रपञ्च जिसकी सत्ता प्रतीतिमात्र होती है, वह आत्मा से ही पुनः पुनः उद्भूत होता है, आत्मा में ही स्थिति ग्रहण करता है एवं उसी में लीन होता है।

जगत् की सत्ता :-- यह सृष्टि जीव के द्वारा की गयी है ऐसा मानने पर कुछ शङ्काएँ इस प्रकार हो सकती हैं कि यदि माया और अविद्या एक ही हैं तो वही जीवत्वप्रापक उपाधि है और वही ईशत्वप्रापक उपाधि क्योंकि (दृष्टि-सृष्टिवाद में माया तथा अविद्या में अभेद माना गया है) दूसरी कोई उपाधि है नहीं। ऐसी दशा में जीव और ईश्वर का भेद कैसे होगा ? इसके समाधान

1- जीव एव स्वाज्ञानवशाज्जगदुपादानं निमित्तं च। सि०बि०पृ० 83 ;

में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि दोनों में उपाधिसाम्य है तथापि वह एक ही प्रकार से दोनों की उपाधि नहीं है, किन्तु यह अज्ञान ईश्वर की उपाधि विषयतासम्बन्ध से है और जीव की आश्रयतासम्बन्ध से होता है। ईश्वर अविद्या का केवल विषय बनता है। आश्रय नहीं। अविद्या का आश्रय तो जीव है[1]। अविद्या का आश्रय न होने से जगत् की रचना ईश्वर नहीं करता है, किन्तु स्वप्नकालिकगज, रथादि की तरह जीव ही स्वाश्रित अविद्या से जगत् की रचना करता है। इसीलिए इस मत को 'दृष्टिसृष्टिवाद' कहा जाता है। यही कारण है कि इन सभी दृश्यमान् पदार्थों की सत्ता 'प्रातिभासिक' ही मानी गयी है[2]।

श्री शङ्कराचार्य तथा अन्य अद्वैतवेदान्तियों ने जगत् की त्रिविध सत्ता को स्वीकार किया है, परन्तु प्रकाशानन्दयति शाङ्करमत का प्रायः समर्थन करते हुए भी इस विषय में अपना स्वतन्त्र विचार रखते हैं। उन्होंने शङ्कराचार्य द्वारा वर्णित जगत् की केवल प्रतिभासिक सत्ता को ही स्वीकार किया है, व्यावहारिक को नहीं।

जीव का एकत्व :-- प्रकाशानन्द को 'एकजीववाद' का सिद्धान्त ही मान्य

1- जीवाश्रया ब्रह्मपदाह्यविद्यातत्त्वविन्मता। वे०सि०मु०पृ० 3.

2- दृश्यं च सर्वं प्रातीतिकम्। सि०बि० पृ० 83.

है[1]। इसी से दृष्टिसृष्टिवाद की संगति भी कही जाती है[2]। इनका कथन है कि माया और अविद्या का अभेद होने से अविद्या एक ही है ऐसा सिद्ध होता है । यही अविद्या स्वरूपत: जीवत्वप्रापक उपाधि है । इसलिये जीव भी एक ही होना चाहिए । जीव-भेद की जो प्रतीति होती है अर्थात् जीव का जो अनेकत्व भासित होता है,उसका कारण जीव की अनेकता न होकर देहादि का भेदमूलक भ्रम है[3]। देहादिभेद होने से अन्त:करणों का भेद स्वत: सिद्ध है । इन्हीं अन्त:करणों के माध्यम से जीव सुखदु:खादि का भोग करता है । इस प्रकार अन्त:करणों की अनेकता होने के कारण जीवगत कर्म तथा भोगों में अव्यवस्था नहीं होती । अर्थात् एक जीववाद में सब शरीरों में क्रिया तथा भोग साम्य की आपत्ति नहीं हो सकती है ।

मोक्ष :-- ' मुक्ति ' के विषय में प्रकाशानन्द का कथन है कि कर्म ही समस्त अनर्थों का मूल है । इन कर्मों का नाश आत्मज्ञान के द्वारा ही होता है ।यही ज्ञान जीव के समस्त शुभाशुभ कर्मों को भस्मसात् कर देता है, जिससे जीव ' मुक्त ' कहा जाने लगता है । प्रकाशानन्द ' सद्योमुक्ति ' के समर्थक हैं जब कि शङ्करा-चार्य जीवन्मुक्ति के प्रतिपादक हैं । प्रकाशानन्द के अनुसार जिस समय जीव को

1- मुख्यो वेदान्तसिद्धान्त एकजीववादाख्य: । सि0बि0पृ0 83 ·

2- इममेव च दृष्टिसृष्टिवादमाचक्षते । वही पृ0 83 ·

3- देहभेदाच्च जीवभेदभ्रान्ति: । वही पृ0 83 ·

आत्मसाक्षात्कार होता है, तत्क्षण ही उसके संचित, क्रियमाण तथा प्रारब्ध समस्त कर्म दग्ध हो जाते हैं। जीव का अज्ञान से सम्पर्क सदा के लिये समाप्त हो जाता है। पुनर्जन्म के हेतुभूत किसी भी प्रकार के कर्मों के अवशिष्ट न होने के कारण 'मुक्त पुरुष' को जन्म नहीं लेना पड़ता है और वह सदा के लिये जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। प्रकाशानन्द श्रुतियों में कहे गये इन वाक्यों को एकान्तिकरूप से स्वीकार करते हैं कि ज्ञान होने पर अज्ञान तथा उससे प्रेरित सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं, और वे पुनर्जन्म रूप फल को प्रदान करने में असमर्थ हो जाते हैं। प्रकाशानन्द इस श्रुतिवाक्य को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं कि उस ब्रह्म के दर्शन हो जाने पर हृदय की ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो जाती है तथा सभी अज्ञानजन्य संशय दूर हो जाते हैं।

जीवों के मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त में एक शङ्का यह हो सकती है कि एकजीववाद में जब एक ही जीव है तो अन्य जीव कहाँ से आये और उसके मुक्त होने से क्या सभी जीव मुक्त हो जायेंगे ? इस विषय में प्रकाशानन्द का कहना है कि किसी एक ही शरीर में जीव स्थित है और वही जीव मुख्य है। अन्य सभी जीव मिथ्याभूत जीवाभास रूप में कल्पित हैं। इसलिये सभी मिथ्या ही हैं। जैसे नानाजीववाद में किसी के द्वारा स्वप्न में देखे गये अन्य कल्पित जीव मिथ्या होते हैं, वैसे ही जागरित दशा के जीव भी मिथ्या ही होते हैं।

1- भिद्यते हृदयग्रन्थि . . . . परावरे ।। मु0उ0 2/2/8 ;

शङ्कराचार्य सद्योमुक्ति के साथ - साथ 'जीवन्मुक्ति' के भी समर्थक हैं, जब कि प्रकाशानन्द जीवन्मुक्ति को नहीं मानते । इनके विचार में श्रवण-मनन तथा निदिध्यासन से आत्मबोध प्राप्त करने वाले विद्वान् को मुक्ति के लिये क्षणमात्र की भी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है, क्योंकि उसके संचित, क्रियमाण तथा प्रारब्ध तीनों प्रकार के कर्म आत्मज्ञानाग्नि में तत्काल दग्ध हो जाते हैं । कोई भी कर्म यहाँ तक कि प्रारब्ध कर्म भी अवशिष्ट नहीं बचते हैं । जिनके भोग के लिये उसे शरीर धारण किये रहने की विवशता रहे ।

सप्तम अध्याय

उपसंहार

उपसंहार :--

अद्वैतवेदान्त परम्परा में जीव की संधारणा का व्यापक रूप से विवेचन एवं प्रतिपादन हुआ है । प्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट ही यह निष्कर्ष निकलता है कि अद्वैत वेदान्त का मूलाधार यद्यपि वेदों का संहिता रूप वाङ्मय है, तथापि उसमें जीव के स्वरूपादि के सन्दर्भ में कुछ भी इङ्गित नहीं है । इस परम्परा की दूसरी अथवा वास्तविक शृङ्खला उपनिषदें हैं । इनमें आत्मा तथा परमात्मा के विषय में चिन्तन अत्यधिक पल्लवित रूप में उपलब्ध होता है । एक ही तथ्य भिन्न - भिन्न शब्दों में प्रतिपादित हुआ है कि आत्मा परमात्मा का अंश है । लक्षणया यह भान सर्वत्र होता रहता है कि अज्ञान एवं तज्जन्य अन्त:करण रूप उपाधियों से उपहित चैतन्य की ही ' जीव ' संज्ञा होती है । ऐतरेय उपनिषद् में कहा गया है कि सृष्टि के पश्चात् स्वयं परमात्मा ही प्राणियों की ' मूर्द्धा ' को विदीर्ण करके करके उन शरीरों में प्रविष्ट कर गया तथा ' जीव ' संज्ञा से अभिहित होकर स्वयं को देशकालादि से परिच्छिन्न , सांसारिक विषयों का कर्ता, भोक्ता समझ कर सुखी तथा दु:खी होने लगा । जीव ब्रह्म का आभासमात्र है अर्थात् बुद्धि में प्रतिबिम्बित चेतन ब्रह्म ही इस संसार में जीवरूप से जाना जाता है तथा यही अविद्या के वशीभूत होने के कारण स्वयं को कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता समझता हुआ सुखी एवं दु:खी होता रहता है । कर्मों को करते समय जीव को उनके शुभाशुभ का ध्यान नहीं रहता है । यही कारण है कि उन कर्मों के फलों को भोगते समय जीवों को अच्छे एवं बुरे दोनों ही प्रकार के फलों को भोगना पड़ता है । भोग के निमित्त ही उसे

पुन: पुन: इस लोक में आकर जन्म तथा मरण रूप कष्ट को भी सहना पड़ता है । विभिन्न योनियों की प्राप्ति में स्वयं जीवों के कर्म ही निर्णायक होते हैं । साथ ही साथ उन जन्मों की आयु तथा भोगों का निर्धारण भी ये कर्म ही करते हैं ।

'जीव' शरीर में किस स्थान में रहता है इस विषय में उपनिषदों में स्पष्ट कहा गया है कि अंगूठे के परिमाण वाला 'जीव' हृदय में स्थित रहता है । इसी जीव को कठोपनिषद् में 'रथी' नाम से भी सम्बोधित किया गया है । मुण्डकोपनिषद् में जीवात्मा की तुलना एक पक्षी से की गयी है । जो लिङ्गशरीरोपाधि से युक्त होकर स्वयंकृत कर्मों के फल भोगता है । जीव के भोगस्थान जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति हैं, जिनमें स्थित होकर वह स्थूल, सूक्ष्म तथा आनन्द रूप भोगों को भोगता है । जीव के स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर पाँच कोशों से निर्मित होते हैं तथा भोग काल में ये (कोश) ही माध्यम बनते हैं ।

आत्मा अजर अमर होती है अतएव उसका नाश किसी अवस्था में नहीं हो सकता है, यहाँ तक कि जीव का पुनर्जन्म होने पर भी केवल अचेतन मिथ्या तथा नश्वर शरीर का ही नाश होता है । अद्वैत वेदान्त की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि वह 'सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म' के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ को पारमार्थिक सत्य के रूप में स्वीकार नहीं करता है । ब्रह्मातिरिक्त सभी दृश्यमान जगत् के पदार्थ मिथ्या होते हैं । एक जन्म के आयु- पर्यन्त भोग को भोगने के पश्चात् जीव का शरीर नष्ट हो जाता है और मृत शरीर में

जीव रह नहीं सकता इसलिये संचित और क्रियमाण कर्मों के भोग के लिये जीव को पुन: नये शरीर को धारण करना अनिवार्य होजाता है ,क्योंकि शरीर ही भोग का माध्यम या आयतन होता है । इस प्रकार शरीर ही बारम्बार परिवर्तित होता है । शरीर का ही स्वाभाविक धर्म मृत्यु है जीव का नहीं । यदि मृत्यु को जीव का धर्म माने तो जीव का मोक्ष असम्भव हो जायेगा । इस स्थिति में जीवब्रह्मैक्य को सिद्ध करने वाले उपनिषद् वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे और ब्रह्म भी मृत्युधर्मक कहा जाने लगेगा । इन सभी अनुपपत्तियों से निराकरण के लिये मृत्यु को शरीर का स्वाभाविक धर्म स्वीकार करना ही उचित एवं तर्कसंगत प्रतीत होता है । यह दूसरी बात है कि जीव शरीरगत धर्मों को स्वयंगत समझने के कारण सुखी एवं दुखी होता है ।शरीर के प्रति मोह होने के कारण शरीर से जिस समय जीव निष्क्रमण करता है उसको अत्यन्त कष्ट होता है ।समस्त शरीर में व्याप्त प्राण भी उस जीव के साथ ही उत्सर्जित हो जाते हैं ।शरीर के साथ लिङ्गात्मा जीव का तादात्म्य सम्बन्ध होने के कारण मरणोन्मुख जीव को अत्यधिक कष्ट का अनुभव होता है । प्राणों का उत्क्रमण करने वाले जीव के शरीर की समस्त इन्द्रियाँ उस (शरीर) के प्रति अपने - अपने कार्यों को अवरुद्ध करके स्वरूप (लिङ्गात्मा) में विलीन हो जाती है ।

उपनिषदों में प्राणों के निकलने के लिये नेत्र,मूर्द्धा आदि स्थानों का कथन है । शरीरान्तर की प्राप्ति होने के बाद जीव को पूर्वजन्मों का स्मरण नहीं रहता है केवल उस जन्म के शुभाशुभ कर्मफलों का भोग अवश्य करना पड़ता है । सांसारिक धनाभिमानी जीव मुक्ति का मार्ग न मिलने के कारण

संसार में भ्रमण करते हुए कुटिलगतियों को प्राप्त करते हैं तथा इस लोक के मृगमरीचिका सदृश आनन्द और सुखों को पाने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं, परन्तु उन्हें क्षणिक सुखप्राप्ति में निहित शुभाशुभ कर्मों का ध्यान नहीं रहता है। इन जीवों के लिये स्वर्ग तथा नरकादि की व्यवस्था का भी विवरण उपनिषदों में है। जीवों के मोक्ष प्राप्ति में दो साधन (उपाय) बताये गये हैं (1) ज्ञान से (2) उपासना से। सच्चिदानन्द ब्रह्म का ज्ञान होने पर अर्थात् जीव को स्वरूप का ज्ञान होने पर यह मुक्ति प्राप्त होती है तथा इसमें शरीर नाश आवश्यक नहीं है। उपासना को माध्यम बना कर प्राप्त की गई मुक्ति क्रम से होती है। उपासक अपने उपास्य अपर ब्रह्म के मुक्त होने पर ही मुक्ति लाभ कर सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी उपनिषदों में वर्णित तथ्यों का ही विवेचन हुआ है। गीता में परब्रह्म को तीन रूपों में प्रस्तुत किया गया है (1) परब्रह्म (2) ईश्वर (3) जीव। ईश्वर की दो प्रकृतियों-अपरा तथा परा का कथन किया गया है। गीता में अपरा प्रकृति निकृष्ट, अशुद्ध तथा संसार बन्धन रूपा है। जीव रूप से जानी जाने वाली दूसरी परा प्रकृति है। यद्यपि स्वयंकृत शुभाशुभकर्मों के अनुसार जन्म पाने वाले जीव अपरा प्रकृति से उत्पन्न भोगों को भोगने के निमित्त ही जन्म लेते हैं, तथापि यह जीवात्मा पुरुष वास्तविक रूप से न जन्म लेता है और न मरता है। जन्म और मरण का कार्य तो शरीर का है। शरीर को अपना समझने के कारण ही वह इस संसार के बन्धन में बंधता है। अज्ञान के कारण ही जीव शरीर से अपने को

भिन्न समझने में असमर्थ पाता है तथा संसार चक्र में ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त विविध योनियों में जन्म लेता है । उसके इस भ्रमण चक्र का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष होता है । अज्ञान का अन्धकार इतना सघन होता है कि जब तक निरन्तर जीव को उसके स्वरूप का बोध नहीं कराया जाता है तब तक उसका इस संसार से मुक्त होना असम्भव है । जीवों के जन्म का मुख्य कारण कर्म ही है इसलिये गीता में भगवान् कृष्ण अर्जुन को मुक्ति के साधन के रूप में 'निष्काम कर्मयोग' का उपदेश देते हैं । निष्काम कर्म का अर्थ है आसक्तिरहित कर्म ।

जीव की पुनर्जन्म के विषय में गीता का कहना है कि जीवों को बन्धन में डालने वाले सत्व, रजस् तथा तमस् ये तीन गुण होते हैं ।जीव की बुद्धि भी त्रिगुणात्मिका होती है । जीवों की मृत्यु के समय उसकी बुद्धि में जिस गुण की प्रधानता रहती है,उसी के अनुसार अगला शरीर प्राप्त होता है । यथा सत्व, रजस् और तमस् गुण की क्रम से प्रधानता रहने पर देव,मनुष्य तथा तिर्यग्योनियों की प्राप्ति होती है । मनुष्येतर सभी योनियाँ केवल भोगयोनियाँ हैं,उन्हें कर्म करने की स्वतन्त्रता नहीं है ।

मुक्ति के सम्बन्ध में गीता का कथन है कि निष्काम कर्म करने वाले पुण्यात्मा जीवों के लिये ब्रह्मलोक का मार्ग प्रशस्त हो जाता है ।

शङ्कराचार्य के पूर्ववर्ती आचार्यों में प्रमुख ये हैं -गौडपाद, औडुलोमि,आश्मरथ्य,कार्ष्णाजिनि,आत्रेय, काशकृत्स्न बादरि तथा जैमिनि हैं । आचार्य गौडपाद जगत् की उत्पत्ति के विषय में अलात या मशाल का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जैसे मशाल के घूमने पर उसमें से अग्नि की अनेकों आकृतियाँ दृष्टिगत होती हैं और घुमाना बन्द होने पर आकृतियाँ नहीं

दिखाई देती हैं ठीक उसी प्रकार मन के स्पन्दन से दृश्यप्रपञ्च की प्रतीति होने लगती है परन्तु मन के अमनीभाव होते ही जगत् की अनुभूति नहीं होती है। आचार्य का कथन है कि वस्तुत: जगत् की कोई सत्ता नहीं होती है केवल मन के स्पन्दन के परिणाम स्वरूप ऐसा होता है। परमार्थ की दृष्टि से जगत् की उत्पत्ति तो नहीं ही है साथ ही जीवों का बद्ध, साधक तथा मुमुक्षु होना भी मिथ्या या मायिक है --

' न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक: ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।' {2/22} {मा०का०}

आचार्य का कथन है कि रज्जु में सर्प अथवा शुक्ति में रजत के समान परब्रह्म में ही इस प्रपञ्च भ्रम की प्रतीति होती है। अतएव जीवों का जन्म भी वास्तविक नहीं है। परमार्थ रूप से केवल ब्रह्म ही सत्य है।

जीव तथा जगत् के विषय में यही विचार आचार्य शङ्कर के भी हैं, सम्भवत: भगवान् गौडपाद के प्रशिष्य होने के कारण ही यह साम्य दिखायी पड़ता है। अद्वैत-वेदान्त के सिद्धान्त का बीज वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध होता है परन्तु इस वाद का सैद्धान्तिक एवं आलोचनात्मक अध्ययन का कार्य शङ्कराचार्य के द्वारा ही सम्पन्न हुआ था। शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद का प्रमुख आधार बादरायण का ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषद्-दर्शन था। इन्हीं दोनों के आधार पर ही शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य लिखे। आचार्य ने अनेक स्थलों पर वेदान्त दर्शन को " औपनिषद्-दर्शन " की संज्ञा दी है। आचार्य शङ्कर ने अद्वैततत्त्व ब्रह्म को निर्गुण कहा है। वही सर्वोच्च सत्ता है। ब्रह्मतत्त्व कोई

द्रव्यरूप सत्य न होने पर भी समस्त जगत् का अधिष्ठान है तथा ब्रह्म ही समस्त वस्तुओं का अन्तर्भाव होता है । ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप तो है ही साथ ही वह स्वतः सिद्ध भी है । उपनिषदों में परमार्थ सत्ता के विषय में निर्गुण तथा सगुण रूप में विवरण पाये जाते हैं जिसे शङ्कर ने पराविद्या ﴾उच्चकोटि का ज्ञान﴿ तथा अपरा विद्या ﴾ निम्नकोटि का ज्ञान ﴿ नाम दिया है । ईशोपनिषद् के भाष्य में शङ्कराचार्य ने ब्रह्म के साथ परस्पर विरोधी विधेयों का सम्बन्ध बताया है जैसे कि " यह गतिविहीन होने पर भी मन से अधिक वेगवान है ।" आचार्य के अनुसार इसमें कोई विरोध नहीं है, यदि हम ब्रह्म का विचार निरूपाधिक तथा सोपाधिक रूप से करें तो । दो विभिन्न दृष्टिकोणों से ब्रह्म एक ही काल में निरूपाधिक या निर्विशेष तथा सोपाधिक या सविशेष दोनों ही हो सकता है, अर्थात् मुक्तात्मा के दृष्टिकोण से वह निरूपाधिक है और बद्ध व्यक्ति के दृष्टिकोण से ब्रह्म विश्व के कारण रूप से प्रकट होता है जिसमें विशिष्ट सत्वादि गुण है । यह ब्रह्म समस्त व्यावहारिक सत्ताओं से भिन्नधर्म के हैं इसलिये आचार्य ने इसको समस्त वस्तुओं के प्रति' नेति-नेति ' अर्थात् निषेधात्मक रूप में ही प्रस्तुत किया है । ब्रह्म के लिये आचार्य ने ' एक ' शब्द का प्रयोग न करके 'अद्वैत ' शब्द दिया है । शङ्कर का विचार है कि ब्रह्म के लिए प्रयुक्त "सच्चिदानन्द" लक्षण भी सर्वथा निर्दोष नहीं है । यद्यपि यह यथार्थ सत्ता को सबसे उत्तम ढंग से प्रकट करता है । ब्रह्म को यथार्थ सत्ता का नाम देने का तात्पर्य यह है कि वह प्रतीति रूप, दैशिक, भौतिक और चराचर जगत् सभी से भिन्न है ।

आत्मा तथा ब्रह्म दोनों एक हैं और इसमें सत् के सब लक्षण यथा

चैतन्य सर्व व्यापकता और आनन्द धर्म हैं आत्मा ब्रह्म है जो विशुद्ध विषयी रूप है वहीं विशुद्ध विषय रूप है ।

शङ्कर का आशय है कि 'ईश्वर' सगुण ब्रह्म का नाम है जिसे सर्व-श्रेष्ठ व्यक्ति माना गया है । उपनिषदों में ईश्वर को अन्तर्यामी कहा गया है जो जीवात्मा से पृथक् नहीं है तथा जीवात्मा के द्वारा ही प्रकृति के अन्दर प्रवेश करता है । ईश्वर में इतनी शक्ति है कि वह बिना साधनों के ही सृष्टि रचना करता है अपनी महान् शक्तियों के द्वारा वह अपने को अनेक कार्य रूप में परिणत कर लेता है । आचार्य ने 'ब्रह्म' के लिये भी कहीं कहीं 'ईश्वर' शब्द प्रयुक्त किया है । शाङ्कर दर्शन के अनुसार जगत् को ब्रह्म का 'विवर्त' कहा गया है परिणाम नहीं परन्तु माया शक्ति से शबलित होने के कारण ब्रह्म जगत् का कारण तथा जगत् कार्य है । आचार्य शङ्कर ने ब्रह्म, ईश्वर, जीव तथा साक्षी में स्पष्ट अन्तर किया है । यद्यपि अनेक स्थलों पर वे निर्गुण ब्रह्म को ही ईश्वर कहते हैं ।

जगत् की उत्पत्ति माया विशिष्ट ब्रह्म ही करता है ऐसा आचार्य का मत है इस माया विशिष्ट ब्रह्म की संज्ञा शङ्कर ने 'ईश्वर' दी है । यही ईश्वर 'अपरब्रह्म' की संज्ञा से भी अभिहित होता है । यह ईश्वर जीवों को कर्मानुसार फल देता है अर्थात् ईश्वर धर्म तथा अधर्म की अपेक्षा करके सृष्टि निर्माण करता है । यही कारण है कि यह सृष्टि विषम प्रतीत होती है । शङ्कर ईश्वर की तुलना पर्जन्य से करते हुए ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहते हैं कि जिस प्रकार व्रीहि यवादि की सृष्टि में पर्जन्य साधारण कारण है और यवादि के बीज में अन्तर्निहित सामर्थ्य असाधारण कारण है उसी प्रकार देव मनुष्यादि

की सृष्टि का साधारण कारण ईश्वर तथा असाधारण कारण तत्स् जीवों में रहने वाले ' कर्म ' हैं ।

निष्कर्ष यह निकलता है कि आचार्य शङ्कर कर्मों की ही प्रधानता को स्वीकार करते हैं । शङ्कर के अनुसार एक अद्वय ब्रह्म ही माया शक्ति के कारण ' ईश्वर ' तथा अविद्योपाधि के कारण ' जीव '- इन दो रूपों में भासित होता है । मुण्डकोपनिषद् §3/1/1§ के भाष्य में आचार्य का कथन है कि उन दोनों में से एक क्षेत्रज्ञ सूक्ष्म शरीर को धारण करता है तथा अज्ञान के कारण कर्मों के फलों को सुख-दुःख रूप में भोगता है । दूसरा नित्य,निर्मल,सर्वज्ञ तथा ' साक्षी ' स्वरूप है ।

आचार्य का मत है कि ' ईश्वर ' अपनी लीला के लिये ही सृष्टि करता है । सृष्टि से ईश्वर को प्रसन्नता मिलती है,इसी प्रसन्नता में मुक्तात्मा भी सम्मिलित हो सकते हैं । ईश्वर तथा जगत् अर्थात् कारण एवं कार्य तादात्म्य युक्त है । यह जगत् सृष्टि रचना के समय नाम व रूप में विकसित होता है और प्रलयावस्था में अविकसित रहता है । प्रत्येक कल्प के अन्त में ईश्वर समस्त जगत् का प्रतिसंहार करता है, अर्थात् भौतिक जगत् अव्यक्त प्रकृति के अन्दर विलीन हो जाता है । सभी अमुक्त जीवात्माएं कुछ समय के लिये उपाधियों के सम्बन्ध से स्वतन्त्र हो जाने के कारण मानो प्रगाढ़ निद्रा में पड़ी रहती हैं । इन जीवात्माओं के कर्मों के परिमाण निःशेष न हो पाने के कारण उन्हें पुनः दैहिक जीवन में प्रवेश लेना अनिवार्य हो जाता है तब फिर से जन्म कर्म और मृत्यु का पुराना चक्र प्रारम्भ हो जाता है । जीवों में जब तक अविद्या का

लेशमात्र भी अवशिष्ट रहता है,वे मुक्त नहीं हो सकते हैं। उनका जीवत्व तभी नष्ट होता है जब विस्मृत हुए स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है।

84 लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ यह जीवात्मात्मा एक ही ईश्वर का अंश है फिर भी उनके कर्मफलों में परस्पर कभी भी किसी प्रकार का मिश्रण नहीं होता है क्योंकि उनकी बुद्धिरूप उपाधियाँ अनेक होती हैं।

आचार्य शङ्कर का कथन है कि जीव ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होने पर भी न तो वह ब्रह्म है और न उससे भिन्न कोई वस्तु है। वास्तविक रूप से ब्रह्म होने पर भी जीव व्यावहारिक दशा में अल्पज्ञ नितान्त दयनीय तथा निकृष्ट गुणों वाला हो जाता है। यद्यपि ब्रह्म के सर्वज्ञत्व, चेतनत्व, तथा आनन्दरूपता आदि सभी गुण विद्यमान रहते हैं तथापि अविद्या के प्रभाव से चेतनता को छोड़कर अन्य गुण जीव में तिरोहित हो जाते हैं। आचार्य ने ब्रह्म तथा जीव के सम्बन्ध को कहीं आभासवाद से तो कहीं प्रतिबिम्बवाद से तथा कहीं अवच्छेदवाद के माध्यम से समझाया है।

शङ्कराचार्य के 'मायावाद' का अद्वैत वेदान्त दर्शन में एक विशिष्ट स्थान है। ऋग्वेद में 'माया' शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है और यह शब्द वरुण, मित्र और इन्द्र की अलौकिक शक्ति को संकेतित करने के लिये ही किया गया है। इस शक्ति को जगत्-धातृ कहा गया है। ब्रह्म के साथ जगत् का सम्बन्ध अनिर्वचनीय कहा गया है। माया को शङ्कर ने सदसत् से विलक्षण मिथ्या तथा अनिर्वचनीय कहा है। यह ब्रह्म के प्रतिबन्ध के रूप में रहती है। माया की आवरण एवं विक्षेप नामक दो शक्तियाँ भी कही गयी

हैं । माया जगत् का उपादान कारण भी है ।

शङ्कर के सिद्धान्त के अनुसार जगत् मिथ्या या भ्रान्ति मात्र है । दृष्टि-दोष के कारण मन्द अन्धकार में स्थित रज्जु में जिस प्रकार सर्प की प्रतीति होती है ठीक उसी प्रकार ब्रह्म में अविद्या के द्वारा जगत् की प्रतीति होती है यद्यपि रज्जु में सर्प अथवा ब्रह्म में जगत् का अस्तित्व किसी काल में भी नहीं रहता है फिर भी मन्द अन्धकार के कारण रज्जु में सर्प तथा अविद्या या माया के कारण ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होती अवश्य है । जो कि नितान्त भ्रान्त तथा अवास्तविक होती है । माया से उत्पन्न होने के कारण यह नाम रूपात्मक प्रपञ्च रज्जु सर्प के समान ब्रह्म का विवर्त मात्र है अतः ब्रह्म स्वरूप से पृथक् इसकी कोई सत्ता नहीं है । चूंकि सृष्टि अतात्त्विक है इसलिये ब्रह्म का स्त्रवदृत्व भी कल्पित है । मिथ्याज्ञान वह ज्ञान है जिसमें कोई वस्तु न होते हुए भी प्रतीत हो । आचार्य जगत् की प्रतीति को सिद्ध करने के लिये घटाकाश आकाशकुसुम आदि दृष्टान्त देते हैं ।

शङ्कर ने 'अविद्या' तथा 'माया' शब्दों के प्रयोग में कोई विशेष भेद नहीं किया है । परन्तु परवर्ती अद्वैतवादी आचार्य दोनों के मध्य भेद करते हैं । शङ्कर प्रलयावस्था में भी माया का अस्तित्व स्वीकार करते हैं । उनका कहना है कि ईश्वर के अन्दर की माया नामक शक्ति एक व्यक्ति के अन्दर रहने वाली 'अविद्या' का नेतृत्व करती है । अविद्या और माया एक ही मूल भूत अनुभव रूपी तथ्य के विषयिनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ पक्ष को प्रस्तुत करती हैं । माया को अविद्या कहने का कारण यह है कि ज्ञान के द्वारा इसका उच्छेद हो जाता है ।

अद्वैत वेदान्त का आत्मा अविद्या के कार्य बुद्धि से सम्पर्क करने के उपरान्त ' जीव ' कहलाने लगता है । जीव स्थूल,सूक्ष्म तथा कारण इन तीन शरीरों से युक्त होकर जगत् के भोगों का उपभोग करता है । जीव के ये भोग उसे उसके द्वारा ही किये गये कर्म के आधार पर शुभाशुभ रूप में प्राप्त होते हैं । इन तीन शरीरों में से स्थूल शरीर मृत्यु के उपरान्त नष्ट हो जाता है अर्थात् प्रत्येक जन्म में जीव को फल भोगने एवं कर्म करने के लिये नया शरीर धारण करना पड़ता है परन्तु सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर मोक्ष-प्राप्ति पर्यन्त जीवात्मा के साथ स्थायी अवयव के रूप में बने रहते हैं । आचार्य का कथन है कि जीव धारक शक्तियाँ निरन्तर बनी रहती हैं जैसे कि सूक्ष्म शरीर । ये तब तक बनी रहती है जब तक कि संसार विद्यमान है और आत्मा के साथ लगी हुई जाती है,यहाँ तक कि यदि आत्मा एक पौधे में प्रवेश करे तब भी ये साथ रहती है यद्यपि उस अवस्था में अन्त:करण और इन्द्रियाँ स्वभावत: अपने को व्यक्त नहीं करतीं ।

जीव के भोगस्थान 3 माने गये हैं जाग्रत्,स्वप्न तथा सुषुप्ति । इन्हें जीव की अवस्थायें भी कहा जा सकता है । जाग्रत् अवस्था में ज्ञान कासम्पादन करनी वाली इन्द्रियाँ सक्रिय रहती हैं और जीव मन तथा इन्द्रियों के द्वारा तरह-तरह के ज्ञान प्राप्त करता है ।स्वप्नावस्था में मन के अतिरिक्त सभी इन्द्रियाँ विश्राम करती हैं । इस अवस्था का भोग जाग्रत् अवस्था के भोगों का सूक्ष्म रूप होता है । सुषुप्ति अवस्था में मन तथा इन्द्रियाँ निश्चेष्ट रहती हैं

एवं आत्मा एक प्रकार से अपने आप में विलीन रहकर अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। आत्मा का नैरन्तर्य इसी से सिद्ध होता है कि सोकर जागने के पश्चात् सुषुप्ति कालिक ज्ञान की स्मृति बनी रहती है। आचार्य सुषुप्ति, मूर्च्छा तथा मोक्ष में अन्तर करते हुए कहते हैं कि 'सुषुप्ति' में सीमित करने वाली उपाधि विद्यमान रहती है जिससे कि जब यह उपाधि अस्तित्व में आती है तो जीव भी अस्तित्व के रूप में आ जाता है अर्थात् इन्द्रियादि से जीव का सम्पर्क कुछ समय के लिये टूटता है परन्तु 'मोक्ष' वह अवस्था है जिसमें जीव का अविद्या या माया से सदा सर्वदा के लिये सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। अज्ञान के बीज भस्म हो जाते हैं। 'मूर्च्छा' की अवस्था इन दोनों से भिन्न है इस अवस्था में जीव का उपाधियों से सम्बन्ध बना रहने पर भी इन्द्रियाँ पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं करती हैं। इस अवस्था को मृत्यु का द्वार कहा गया है। यदि आत्मा का कोई अपुरस्कृत कर्म अवशिष्ट रहता है तो वाणी की शक्ति तथा मन मूर्च्छित व्यक्ति में लौट आते हैं और यदि कर्म समाप्त हो जाते हैं तो श्वास उष्णतादि भी शरीर को छोड़ कर चले जाते हैं। इस अवस्था को 'मृत्यु' कहा जाता है।

जीवों के मोक्ष के सम्बन्ध में शङ्कर का मत है कि 'मोक्ष' का अर्थ जगत् का तिरोभाव नहीं है बल्कि विद्या से अविद्या को दूर करके जगत् का विनाश करना है। अविद्याकृत इस दुःखात्मक जगत् से छुटकारा पाकर ब्रह्मरूप हो जाना ही जीवों का मोक्ष है। शङ्कराचार्य जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति में भेद तो करते ही हैं साथ ही साथ क्रममुक्ति के भी समर्थक हैं। जीवन्मुक्ति

ज्ञान से तथा क्रममुक्ति उपासना से प्राप्त होती है । जीवन्मुक्ति के सन्दर्भ में आचार्य कुलाल-चक्र का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कि जैसे एक बार घुमाने पर कुलालचक्र वेग समाप्त होने के पश्चात् ही रुकता है बीच में नहीं|वैसे ही विद्वान को ज्ञान के द्वारा मुक्ति हो जाने पर भी प्रारब्ध,कर्मों का भोग तो अवश्य ही भोगना पड़ता है । 'प्रारब्ध' कर्म वे कर्म होते हैं जो अपना जन्म आयु तथा भोग रूप फल देने के लिये प्रस्तुत हो चुके हैं । ज्ञान के द्वारा केवल संचित तथा क्रियमाण कर्म ही दग्ध होते हैं प्रारब्ध कर्म नहीं । इसलिये यह आवश्यक नहीं है कि ज्ञान प्राप्त होते ही शरीरपात भी हो जाये । देह की उपस्थिति से विद्वान् के मोक्ष की अवस्था में कोई अन्तर नहीं पड़ता । यह स्थिति अशरीरत्व की है इसमें शरीर रहते हुए भी विद्वान् निरासक्तभाव से जीवित रह अपने प्रारब्ध कर्मों को भोगते हुए 'विदेहमुक्ति' की प्रतीक्षा करता है । मोक्ष की अवस्था में द्वैत रूप जगत् का तिरोभाव नहीं होता है वरन् वह अन्य प्रकार के प्रकाश से प्रकाशित होता है । विद्वान् की जगत् के प्रति कोई भी आसक्ति नहीं रहती है ।

शङ्कराचार्य के द्वारा प्रतिपादित आभासवाद,प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छेदवाद के सिद्धान्तों का कमोवेश अनुसरण एवं प्रतिपादन उनके परवर्ती आचार्यों ने किया है । इनमें से प्रमुख आचार्य ये हैं सुरेश्वर,पद्मपादाचार्य, विमुक्तात्मा,सर्वज्ञात्मा,प्रकाशात्मयति,प्रकटार्थ विवरणकार, अमलानन्द,विद्यारण्य, चित्सुख, प्रकाशानन्द तथा वाचस्पति मिश्र ।

जीव तथा ब्रह्म के औपाधिक-भेद के प्रदर्शनार्थ आचार्य शङ्कर के द्वारा उनके भाष्य ग्रन्थों में प्रयुक्त घटाकाश मणिकाकाश इत्यादि अवच्छेदपरक दृष्टान्तों के आधार पर वाचस्पति मिश्र ने अवच्छेदवाद को पल्लवित एवं पुष्पित किया । इनके द्वारा नीरूप चिदात्मा के नीरूप अन्त:करण में प्रतिबिम्बित होने की असंभावना को दर्शाते हुए प्रतिबिम्बवाद के अनौचित्य का प्रतिपादन किया है तथा अज्ञानाश्रयीभूत चैतन्य को जीव और जीवगत अज्ञान के विषयीभूत चैतन्य को ईश्वर अथवा ब्रह्म कहा है । अवच्छेदवादियों का कथन है कि भगवान् भाष्यकार आचार्य शङ्कर भी अवच्छेदवादियों के समर्थक हैं क्योंकि उनके द्वारा प्रदर्शित घटाकाश मणिकाकाश इत्यादि दृष्टान्त अवच्छेदवाद में ही तर्क संगत हो सकते हैं,प्रतिबिम्बवाद में नहीं ।

मिश्र जी के अनुसार जीव की उपाधि 'अन्त:करण' तथा ईश्वर की उपाधि 'अविद्या' बनती है । अवच्छेदवादियों के मत में अखण्ड ब्रह्म की सखण्ड अभिव्यक्ति ही 'जीव' नाम से जानी जाती है । इन दोनों के मध्य का अभेद सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार का है जिस प्रकार घटाकाश तथा महाकाश का है।जीवों के अनेक होने के कारण प्रत्येक जीव का प्रपञ्च भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है । जीव को 'कार्योपाधि' तथा ईश्वर को कारणोपाधि कहा जाता है । इन दोनों के मध्य भेद अग्नि तथा चिंगारी के सदृश होता है । "अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्" वृद्धिह्रासभाक्त्व तथा" न स्थानतोऽपि" इत्यादि सूत्रों को वाचस्पति ने अवच्छेदवाद का आधार बनाया है । वाचस्पति मिश्र अवच्छेदवादी होते हुए भी प्रतिबिम्बवाद के समर्थक हैं यह तथ्य इनके "अवस्थितेरिति काशकृत्स्न: " इस सूत्र के भाष्य की टीका के द्वारा

पुष्ट होता है । इसमें इन्होंने जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब कहा है "जीवन्मुक्ति " के समर्थक तथा "सद्योमुक्ति " के विरोधी हैं ।

आचार्य सुरेश्वर को आभासवादी कहा गया है । ब्रह्मसूत्र ' एव च ' सूत्र को आधार मानकर सुरेश्वर ने जीव को ब्रह्म का आभास बतलाया है इसके लिये उन्होंने जपाकुसुम का दृष्टान्त दिया है । अज्ञा उपाधि से युक्त होकर आत्मा अज्ञान के तादात्म्य को प्राप्त करस्वचि को न जानने के कारण अन्तर्यामी, जगत् का कारण साक्षी तथा ' ईश्वर जाता है । परन्तु जब वही चैतन्य बुद्धि से उपहित होकर बुद्धि के ताद को प्राप्त करके बुद्धिगत स्वचिदाभास को न जानने के कारण जीव कर्ता भोक्ता और प्रमाता कहलाता है । आभास रूप होने के कारण जीवों का मिथ्यात्व भी सिद्ध होता है ।इसी चिदाभास को उन्होंने अज्ञानरूप उपाधि का 'साक्षी ' कहा है ।उपाधियों के अनेक होने के कारण ही जीवों की अनेकता देखी जाती है । भिन्न जीव शरीरों में भिन्न बुद्धि होती है । बुद्धि के अनेक होने के कारण तदाभासित चैतन्य की प्रतीति भी अनेक जीवों के रूप में होती है । सुरेश्वराचार्य के मतानुसार ईश्वर तथा जीव दोनों ही आभास रूप हैं और आभास होने के कारण ये मिथ्या अर्थात् अनिर्वचनीय हैं । सुरेश्वर भी ' जीवन्मुक्ति ' के सिद्धान्त का समर्थन तथा ' सद्योमुक्ति ' का खण्डन करते हैं । इस विषय में उनकी धारणा यह है कि सद्योमुक्ति मानने पर सम्यग्ज्ञान होते ही तत्क्षण शरीरपात की अपेक्षा होती है परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता । ज्ञान होने के पश्चात् भी विद्वान् शरीर धारण किये रहता है ।

ब्रह्मसूत्र के अंशाधिकरणभाष्य एवं उभयलिङ्गाधिकरण भाष्य के अतिरिक्त भाष्यकार कृत कठोपनिषद् तथा ऐतरेयोपनिषद् के भाष्य में भी प्रतिबिम्बपरक दृष्टान्त दृष्टिगत होते हैं। इन्हीं दृष्टान्तों को आधार बना कर विवरण प्रस्थान के प्रवर्तक आचार्य प्रकाशात्मयति ने प्रतिबिम्बवाद का प्रवर्तन एवं संवर्धन किया। विवरणकार ने " पञ्चपादिका और विवरण " में जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब स्वीकार किया है। प्रकाशात्मा ने जीव तथा ईश्वर दोनों को ही उपाधि से उपहित बताया है। जीव तथा ईश्वर के मध्य में {उन दोनों} की भेदक उपाधि अज्ञान ही है, इसलिये आत्मासाक्षात्कार के समय अज्ञान के नष्ट होने पर ही उसे ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होती है। प्रकाशात्मा ने यह सिद्ध कर दिया है कि निरवयव और नीरूप आकाश तथा जपाकुसुम की भाँति निरवयव तथानीरूप चैतन्य का भी अन्त:करण में पड़ सकता है। प्रकाशात्मा अन्त:करण के भेद से अनेक जीव वाद का भी समर्थन करते हैं।

मोक्ष के सन्दर्भ में प्रकाशात्मा ने व्यासादि का दृष्टान्त देते हुए जीवन्मुक्ति को भी स्वीकार किया है। आचार्य ने मुक्ति दशा में जीव की ' ब्रह्मरूपता ' को न मान कर ' ईश्वररूपता ' को स्वीकार किया है क्योंकि इनके अनुसार प्रतिबिम्ब रूप जीव का बिम्ब शुद्ध ब्रह्म न होकर ' ईश्वर ' ही होता है।

प्रतिबिम्बवाद के द्वितीय मत के समर्थक आचार्य संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि हैं। इनके अनुसार समष्टि अज्ञान {अविद्या} में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर तथा व्यष्टि अज्ञान {बुद्धि} में प्रतिबिम्बित जीव कहलाता है।

इन दोनों में अनुगत साक्षी रूप शुद्ध बिम्ब चैतन्य है । सर्वज्ञात्मा एक जीववाद के समर्थक हैं । मुक्ति में जीवन्मुक्ति को न मानकर सद्योमुक्ति को मानते हैं ।

तृतीय मत के समर्थक पञ्चदशीकार विद्यारण्य हैं । इनके अनुसार विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ' ईश्वर ' तथा मलिन सत्त्व प्रधानाप्रकृति अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ' जीव ' है । इन दोनों के अतिरिक्त शुद्ध चैतन्य ' साक्षी ' नाम से अभिहित है । अन्त:करण रूप उपाधि के अनेकत्व के कारण जीवों का अनेकत्व सिद्ध होता है । आचार्य ने पञ्चदशी में 'जीवन्मुक्ति ' के साथ-साथ क्रममुक्ति को भी स्थान दिया है ।

' दृष्टिसृष्टिवाद ' के समर्थक मधुसूदन सरस्वती, जीव के सन्दर्भ में मूलत: प्रतिबिम्बवादी तथा आचार्य शङ्कर के विचारों से साम्य रखने वाले हैं । दृष्टिसृष्टिवाद का मुख्य सिद्धान्त एक जीववाद ही है । आचार्य के अनुसार जीव ' ज्ञाता ' एवं ' ज्ञ ' दोनों ही है । भिन्न-भिन्न अन्त:करणों में प्रतिबिम्बित एक ही मुख्य जीव एक होकर भी अनेक दृष्टिगोचर होता है ।

मधुसूदन सरस्वती ने सद्योमुक्ति तथा क्रममुक्ति दोनों को स्वीकार किया है तथा सद्योमुक्ति के अन्तर्गत ही जीवन्मुक्ति को भी अङ्गीकृत किया है ।

परिशिष्ट

'जीव' शब्द अज्ञानजन्य अन्त:करणगत प्रतिबिम्ब का वाचक है। यह शब्द 'जीव प्राणधारणे' धातु से घ प्रत्यय लगने पर निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है " प्राणधारक पदार्थ' प्राण' लिङ्ग शरीर का उपलक्षक है, अत: लिङ्ग शरीर से युक्त चैतन्य ही जीव कहलाता है। यह ब्रह्म की एक व्यावहारिक अभिव्यक्ति भी है। यही व्यावहारिक आत्मा समस्त क्रियाओं का कर्ता तथा भोक्ता है। जीव की उपर्युक्त व्युत्पत्ति व्याकरण तथा अद्वैत-वेदान्त दर्शन के अनुसार है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में, अद्वैतवेदान्ती परिकल्पना के अनुसार जीव - विषयक विवेचन पहले ही किया जा चुका है। सम्प्रति अद्वैतवाद का अन्य मत वादों के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक विवेचन संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद :- विशिष्टाद्वैत मतावलम्बी रामानुजाचार्य का समय 1037-1137 ई0 है। रामानुजीय सिद्धान्तानुसार जीव, जगत् {माया} और ईश्वर- इन तीनों की पृथक् पृथक् सत्ता स्वीकार की गयी है जबकि अद्वैत-वेदान्त में शङ्कर ने एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार किया है। शाङ्कर वेदान्त में ब्रह्म अज, अनिद्र, अस्वप्न, नामरूपरहित सर्वज्ञ एवं निर्गुण है तो विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म समस्त दोषों से रहित, असीम, अतिशय, एवं असंख्य कल्याण गुणों से सम्पन्न पुरुषोत्तम का रूप है। ब्रह्म की निर्गुणता के सम्बन्ध में रामानुज का कथन है कि ब्रह्म समस्त हेय गुणों से शून्य है। इसके अतिरिक्त शाङ्कर वेदान्त का ब्रह्म समस्त भेदों से रहित अद्वैत सत्य रूप है। ब्रह्म और

ईश्वर में व्यावहारिक भेद शङ्कर को मान्य है परन्तु रामानुज का ब्रह्म सजातीय-विजातीय भेदों से शून्य होते हुए भी स्वगत भेद से शून्य नहीं है । इन्होंने ब्रह्म और ईश्वर में भेद भी नहीं किया है ।

शाङ्कर वेदान्त के अन्तर्गत ' ब्रह्मैव जीव:स्वयम् ' (विवेकचूडामणि, 395) वाक्य से जीवब्रह्मैक्य की सिद्धि की गयी है ।परन्तु रामानुज दर्शन में जीव एवं ब्रह्म की भिन्नता स्पष्ट है । इन दोनों के मध्य शेष-शेषी भाव है । ब्रह्म ' शेषी ' एवं जीव ' शेष ' है । रामानुज वेदान्त में जीव को ज्ञाता कहा गया है,जबकि शङ्कर ने जीव को ' ज्ञ ' की संज्ञा दी है ।शाङ्कर वेदान्त का जीव विभु तथा सर्वव्यापक है परन्तु रामानुज ने जीव को ' अणु ' सिद्ध किया है । शङ्कर ने जहाँ जीव को स्वरूपत: ब्रह्म कहा है वहीं रामानुज ने जीवों की अनन्तसत्ता स्वीकार की है अर्थात् जीव की सत्ता शरीर इन्द्रियों प्राण एवं बुद्धि से पृथक् है जीव कर्ता एवं भोक्ता दोनों है । रामानुज ने जीव के बद्ध, मुक्त तथा नित्य -ये तीन भेद माने हैं । मुक्ति सम्बन्धी विचारधारा भी दोनों आचार्यों में भिन्न है ।शङ्कर वेदान्त के विपरीत रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत " जीवन्मुक्ति " को न स्वीकार करके केवल विदेह मुक्ति माना गयी है ।

जहाँ एक ओर शङ्कराचार्य ने जगत् के मिथ्यात्व को माना हैवहीं दूसरी ओर रामानुज ने जगत् की सत्ता को पृथक् रूप में स्वीकार करके उसे सत्य बतलाया है ।

अद्वैतवाद और द्वैताद्वैतवाद :- द्वैताद्वैतवाद मतावलम्बी आचार्य निम्बार्क हैं। इनका समय 11 वीं शताब्दी है। ब्रह्मवादी होने पर भी निम्बार्क का ब्रह्म अद्वैतवादियों के समान निर्गुण न होकर सगुण है। शाङ्कर दर्शन जहाँ विवर्तवाद को स्वीकार करता है वहाँ निम्बार्क दर्शन परिणामवाद का समर्थन करता है।

आचार्य शङ्कर जीव को ज्ञान स्वरूप मानते हैं तो निम्बार्क एक ही समय में जीव को ज्ञान का स्वरूप एवं आश्रय दोनों ही स्वीकार करते हैं। दोनों के मुक्ति विषयक विचार में भी वैमत्य है। अद्वैतवेदान्त में जीव मुक्ति की अवस्था में ब्रह्मरूप हो जाता है। इसके विपरीत निम्बार्क दर्शन में भक्ति द्वारा प्राप्त भगवत् साक्षात्कार ही मोक्ष है, और यह शरीर रहते सम्भव नहीं है अर्थात् मुक्तिप्राप्ति के लिये शरीरपात की भी अपेक्षा है। निम्बार्क दर्शन के अनुसार जीव और ईश्वर में अंश और अंशीभाव है।

अद्वैतवाद और द्वैतवाद :- मध्वाचार्य (1199- 1303 ई०) ने शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद के एकदम विरोधी सिद्धान्त द्वैतवाद की स्थापना की। मध्व ने जगत् को ब्रह्म का विशेषण न मानकर ब्रह्म व जगत् दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् स्वीकार की है। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को निर्गुण तथा पूर्ण सत्य एवं साध्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है तो मध्व-दर्शन में ब्रह्म को सगुण एवं साकार रूप-धारी विष्णु को ही परमेश्वर के रूप में बताया गया है। अद्वैत दर्शन में ईश्वर जगत् का उपादान एवं निमित्त दोनों कारण है जबकि मध्व दर्शन के अन्तर्गत ईश्वर को केवल निमित्त कारण ही माना गया है। शङ्कर दर्शन के जीव-

ब्रह्मैक्य सिद्धान्त का मध्व ने पूर्णतया विरोध किया है उन्होंने ईश्वर-जीव, जीव-जगत्, जीव और जीव, ईश्वर और जगत् में भी भेद की व्यवस्था की है ।

शङ्कराचार्य के दर्शन में मायावाद प्रमुख सिद्धान्त है । माया का तात्पर्य अविद्या एवं मिथ्यात्व से है परन्तु मध्व ने माया से स्वप्न का आशय ग्रहण किया है । अद्वैतवेदान्त में माया ईश्वर की अभिन्न शक्ति है और मध्व दर्शन में परमेश्वर की शक्ति लक्ष्मी को उससे भिन्न सिद्ध किया है ।

अद्वैतवाद और शुद्धाद्वैतवाद :- वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद है । इनका समय 1481 - 1533 ई० है । वल्लभदर्शन के अन्तर्गत माया ब्रह्म की शक्ति नहीं मानी गयी है । ब्रह्म के माया-सम्बन्ध से अलिप्त होने के कारण ही यह सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है । शङ्कराचार्य तथा वल्लभाचार्य दोनों ही प्रतिबिम्बवाद सिद्धान्त के अनुसर्ता प्रतीत होते हैं । शङ्कर ने प्रतिबिम्बवाद की सिद्धि में जलसूर्यक का दृष्टान्त दिया है तो वल्लभ ने जलचन्द्र का दृष्टान्त दिया है ।

अद्वैतवाद का ब्रह्म निर्गुण है तथा शुद्धाद्वैत का ब्रह्म सगुण पुरूषोत्तम शङ्कर तथा वल्लभ दोनों ही अद्वैती हैं एक का सिद्धान्त केवलाद्वैत और दूसरे का शुद्धाद्वैतवाद कहलाता है । शाङ्कर वेदान्त की मायाशक्ति अविद्यात्मिका एवं मिथ्या है तथा वल्लभ वेदान्त की माया पारमार्थिक सत्य है । शङ्कर ने जगत् को मिथ्या बताया है और इसके विपरीत वल्लभ ने जगत् को सत्य कहा है । अद्वैत दर्शन विवर्तवाद को

स्वीकार करता है तो वल्लभदर्शन परिणामवाद का समर्थक है । शुद्धाद्वैतवाद जीव को ब्रह्म की भाँति सत्य मानता है ।जब कि अद्वैतवाद में जीव अविद्योपाधिक होने के कारण मिथ्या है । इसके अतिरिक्त वल्लभदर्शन में स्वीकृत जीव के विभुत्व का भी शाङ्कर वेदान्त में विरोध है । अद्वैत दर्शन में मुक्ति ज्ञान से ही होती है और भक्ति ﴾उपासना﴿ ज्ञान का साधन मात्र है परन्तु वल्लभ दर्शनदर्शन इसके विपरीत भक्ति से ही जीवों का मोक्ष स्वीकार करते हैं और ज्ञान को भक्ति का अंग स्वीकार करते हैं । मुक्ति की अवस्था में प्राप्त होने वाले ' आनन्द ' के विषय में भी दोनों दर्शनों में भेद है वल्लभ दर्शन में यह आनन्द भक्त को इन्द्रियों एवं अन्त:करण के माध्यम से ही होता है जबकि शङ्कर ने इस आनन्द को इन्द्रियातीत बताया है,क्योंकि आत्मा इन्द्रियादि से परे है ।

अद्वैत वेदान्त परम्परा के आचार्यों द्वारा स्वीकृत मत मतान्तरों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मज्ञान ही कैवल्य या ' मोक्ष ' प्रदान कर सकता है । यह ज्ञान आत्मसाक्षात्कार अथवा अपरोक्षानुभूति के द्वारा प्राप्त होता है ।﴾आत्मा﴿ के अस्तित्व के विषय में किसी का भी मत-भेद न होकर उसके स्वरूप में है । मतभेद के कुछ विषय इस प्रकार हैं :-- ﴾1﴿ ब्रह्म का स्वरूप ﴾ सगुण,निर्गुण ﴿,﴾2﴿ जीव का स्वरूप ,﴾3﴿ जगत् की सत्ता, ﴾4﴿ जीव का एकत्व और अनेकत्व,﴾5﴿ मुक्ति के प्रकार ।

वेदान्त दर्शन के सम्राट् सिद्धान्त अद्वैतवाद की कुछ विशेषताएँ ऐसी भी हैं जो अन्य दर्शन पद्धतियों में उपलब्ध नहीं है। शाङ्कर वेदान्त दर्शन अद्भुत आध्यात्मिक दर्शन होने के साथ ही एक विलक्षण व्यवहारिक दर्शन भी है। यह दर्शन जीवब्रह्मैक्य के द्वारा आत्मसाक्षात्कार का जो स्वरूप निश्चित किया गया है, वह सायुज्यादि की तरह स्थूल कारणों की अपेक्षा न रखकर चरम सूक्ष्मता का ही रूप है क्योंकि असीम तत्व की उपलब्धि से प्राप्त आनन्द शाश्वत तथा सघन होता है यह दर्शन इसी जीवन में जीवों को अलौकिक आनन्दानुभूति का मार्ग भी बताता है। जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त से एक ओर कर्म-फल-भोग के न्याय का निर्वाह हो जाता है तो दूसरी ओर इस संसार में जीवत्व के मूल कारण (अज्ञान) का उच्छेद होकर मुक्ति भी सम्भव होती है।

परिशिष्ट

'जीव' शब्द अज्ञानजन्य अन्त:करणगत प्रतिबिम्ब का वाचक है । यह शब्द ✓'जीव प्राणधारणे' धातु से घ प्रत्यय लगने पर निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है "प्राणधारक पदार्थ' प्राण' लिङ्ग शरीर का उपलक्षक है, अत: लिङ्ग शरीर से युक्त चैतन्य ही जीव कहलाता है । यह ब्रह्म की एक व्यावहारिक अभिव्यक्ति भी है । यही व्यावहारिक आत्मा समस्त क्रियाओं का कर्ता तथा भोक्ता है । जीव की उपर्युक्त व्युत्पत्ति व्याकरण तथा अद्वैत-वेदान्त दर्शन के अनुसार है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में, अद्वैतवेदान्ती परिकल्पना के अनुसार जीव - विषयक विवेचन पहले ही किया जा चुका है । सम्प्रति अद्वैतवाद का अन्य मत वादों के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक विवेचन संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है ।

अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद :- विशिष्टाद्वैत मतावलम्बी रामानुजाचार्य का समय 1037-1137 ई0 है । रामानुजीय सिद्धान्तानुसार जीव, जगत् (माया) और ईश्वर- इन तीनों की पृथक् पृथक् सत्ता स्वीकार की गयी है जबकि अद्वैत-वेदान्त में शङ्कर ने एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार किया है । शाङ्कर वेदान्त में ब्रह्म अज, अनिद्र, अस्वप्न, नामरूपरहित सर्वज्ञ एवं निर्गुण है तो विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म समस्त दोषों से रहित, असीम, अतिशय, एवं असंख्य कल्याण गुणों से सम्पन्न पुरुषोत्तम का रूप है । ब्रह्म की निर्गुणता के सम्बन्ध में रामानुज का कथन है कि ब्रह्म समस्त हेय गुणों से शून्य है । इसके अतिरिक्त शाङ्कर वेदान्त का ब्रह्म समस्त भेदों से रहित अद्वैत सत्य रूप है । ब्रह्म और

ईश्वर में व्यावहारिक भेद शङ्कर को मान्य है परन्तु रामानुज का ब्रह्म सजातीय-विजातीय भेदों से शून्य होते हुए भी स्वगत भेद से शून्य नहीं है। इन्होंने ब्रह्म और ईश्वर में भेद भी नहीं किया है।

शाङ्कर वेदान्त के अन्तर्गत 'ब्रह्मैव जीव:स्वयम्' (विवेकचूडामणि, 395) वाक्य से जीवब्रह्मैक्य की सिद्धि की गयी है। परन्तु रामानुज दर्शन में जीव एवं ब्रह्म की भिन्नता स्पष्ट है। इन दोनों के मध्य शेष-शेषी भाव है। ब्रह्म 'शेषी' एवं जीव 'शेष' है। रामानुज वेदान्त में जीव को ज्ञाता कहा गया है, जबकि शङ्कर ने जीव को 'ज्ञ' की संज्ञा दी है। शाङ्कर वेदान्त का जीव विभु तथा सर्वव्यापक है परन्तु रामानुज ने जीव को 'अणु' सिद्ध किया है। शङ्कर ने जहाँ जीव को स्वरूपत: ब्रह्म कहा है वहीं रामानुज ने जीवों की अनन्तसत्ता स्वीकार की है अर्थात् जीव की सत्ता शरीर इन्द्रियों प्राण एवं बुद्धि से पृथक् है जीव कर्ता एवं भोक्ता दोनों है। रामानुज ने जीव के बद्ध, मुक्त तथा नित्य -ये तीन भेद माने हैं। मुक्ति सम्बन्धी विचारधारा भी दोनों आचार्यों में भिन्न है। शङ्कर वेदान्त के विपरीत रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत " जीवन्मुक्ति " को न स्वीकार करके केवल विदेह मुक्ति मानी गयी है।

जहाँ एक ओर शङ्कराचार्य ने जगत् के मिथ्यात्व को माना है वहीं दूसरी ओर रामानुज ने जगत् की सत्ता को पृथक् रूप में स्वीकार करके उसे सत्य बतलाया है।

अद्वैतवाद और द्वैताद्वैतवाद :- द्वैताद्वैतवाद मतावलम्बी आचार्य निम्बार्क हैं। इनका समय ।। वीं शताब्दी है। ब्रह्मवादी होने पर भी निम्बार्क का ब्रह्म अद्वैतवादियों के समान निर्गुण न होकर सगुण है। शाङ्कर दर्शन जहाँ विवर्तवाद को स्वीकार करता है वहाँ निम्बार्क दर्शन परिणामवाद का समर्थन करता है।

आचार्य शङ्कर जीव को ज्ञान स्वरूप मानते हैं तो निम्बार्क एक ही समय में जीव को ज्ञान का स्वरूप एवं आश्रय दोनों ही स्वीकार करते हैं। दोनों के मुक्ति विषयक विचार में भी वैमत्य है। अद्वैतवेदान्त में जीव मुक्ति की अवस्था में ब्रह्मरूप हो जाता है। इसके विपरीत निम्बार्क दर्शन में भक्ति द्वारा प्राप्त भगवत् साक्षात्कार ही मोक्ष है, और यह शरीर रहते सम्भव नहीं है अर्थात् मुक्तिप्राप्ति के लिये शरीरपात की भी अपेक्षा है। निम्बार्क दर्शन के अनुसार जीव और ईश्वर में अंश और अंशीभाव है।

अद्वैतवाद और द्वैतवाद :- मध्वाचार्य ﴾1199- 1303 ई० ﴿ ने शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद के एकदम विरोधी सिद्धान्त द्वैतवाद की स्थापना की। मध्व ने जगत् को ब्रह्म का विशेषण न मानकर ब्रह्म व जगत् दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् स्वीकार की है। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को निर्गुण तथा पूर्ण सत्य एवं साध्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है तो मध्व-दर्शन में ब्रह्म को सगुण एवं साकार रूप-धारी विष्णु को ही परमेश्वर के रूप में बताया गया है। अद्वैत दर्शन में ईश्वर जगत् का उपादान एवं निमित्त दोनों कारण है जबकि मध्व दर्शन के अन्तर्गत ईश्वर को केवल निमित्त कारण ही माना गया है। शङ्कर दर्शन के जीव-

ब्रह्मैक्य सिद्धान्त का मध्व ने पूर्णतया विरोध किया है उन्होंने ईश्वर-जीव, जीव-जगत्, जीव और जीव, ईश्वर और जगत् में भी भेद की व्यवस्था की है ।

शङ्कराचार्य के दर्शन में मायावाद प्रमुख सिद्धान्त है । माया का तात्पर्य अविद्या एवं मिथ्यात्व से है परन्तु मध्व ने माया से स्वप्न का आशय ग्रहण किया है । अद्वैतवेदान्त में माया ईश्वर की अभिन्न शक्ति है और मध्व दर्शन में परमेश्वर की शक्ति लक्ष्मी को उससे भिन्न सिद्ध किया है ।

<u>अद्वैतवाद और शुद्धाद्वैतवाद :-</u> वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद है । इनका समय 1481 - 1533 ई0 है । वल्लभदर्शन के अन्तर्गत माया ब्रह्म की शक्ति नहीं मानी गयी है । ब्रह्म के माया-सम्बन्ध से अलिप्त होने के कारण ही यह सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है । शङ्कराचार्य तथा वल्लभाचार्य दोनों ही प्रतिबिम्बवाद सिद्धान्त के अनुसर्त्ता प्रतीत होते हैं । शङ्कर ने प्रतिबिम्बवाद की सिद्धि में जलसूर्यक का दृष्टान्त दिया है तो वल्लभ ने जलचन्द्र का दृष्टान्त दिया है ।

अद्वैतवाद का ब्रह्म निर्गुण है तथा शुद्धाद्वैत का ब्रह्म सगुण पुरूषोत्तम शङ्कर तथा वल्लभ दोनों ही अद्वैती हैं एक का सिद्धान्त केवलाद्वैत और दूसरे का शुद्धाद्वैतवाद कहलाता है । शाङ्कर वेदान्त की मायाशक्ति अविद्यात्मिका एवं मिथ्या है तथा वल्लभ वेदान्त की माया पारमार्थिक सत्य है । शङ्कर ने जगत् को मिथ्या बताया है और इसके विपरीत वल्लभ ने जगत् को सत्य कहा है । अद्वैत दर्शन विवर्तवाद को

स्वीकार करता है तो वल्लभदर्शन परिणामवाद का समर्थक है । शुद्धाद्वैतवाद जीव को ब्रह्म की भाँति सत्य मानता है ।जब कि अद्वैतवाद में जीव अविद्योपाधिक होने के कारण मिथ्या है । इसके अतिरिक्त वल्लभदर्शन में स्वीकृत जीव के विभुत्व का भी शाङ्कर वेदान्त में विरोध है । अद्वैत दर्शन में मुक्ति ज्ञान से ही होती है और भक्ति ‡उपासना‡ ज्ञान का साधन मात्र है परन्तु वल्लभ दर्शनदर्शन इसके विपरीत भक्ति से ही जीवों का मोक्ष स्वीकार करते हैं और ज्ञान को भक्ति का अंग स्वीकार करते हैं । मुक्ति की अवस्था में प्राप्त होने वाले 'आनन्द' के विषय में भी दोनों दर्शनों में भेद है वल्लभ दर्शन में यह आनन्द भक्त को इन्द्रियों एवं अन्त:करण के माध्यम से ही होता है जबकि शङ्कर ने इस आनन्द को इन्द्रियातीत बताया है,क्योंकि आत्मा इन्द्रियादि से परे है ।

अद्वैत वेदान्त परम्परा के आचार्यों द्वारा स्वीकृत मत मतान्तरों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मज्ञान ही कैवल्य या 'मोक्ष' प्रदान कर सकता है । यह ज्ञान आत्मसाक्षात्कार अथवा अपरोक्षानुभूति के द्वारा प्राप्त होता है ।‡आत्मा‡ के अस्तित्व के विषय में किसी का भी मत-भेद न होकर उसके स्वरूप में है । मतभेद के कुछ विषय इस प्रकार हैं :-- ‡1‡ ब्रह्म का स्वरूप ‡ सगुण,निर्गुण ‡,‡2‡ जीव का स्वरूप ,‡3‡ जगत् की सत्ता, ‡4‡ जीव का एकत्व और अनेकत्व,‡5‡ मुक्ति के प्रकार ।

वेदान्त दर्शन के सम्राट् सिद्धान्त अद्वैतवाद की कुछ विशेषताएँ ऐसी भी हैं जो अन्य दर्शन पद्धतियों में उपलब्ध नहीं है ।शाङ्कर वेदान्त दर्शन अद्भुत आध्यात्मिक दर्शन होने के साथ ही एक विलक्षण व्यवहारिक दर्शन भी है । यह दर्शन जीवब्रह्मैक्य के द्वारा आत्मसाक्षात्कार का जो स्वरूप निश्चित किया गया है, वह सायुज्यादि की तरह स्थूल कारणों की अपेक्षा न रखकर चरम सूक्ष्मता का ही रूप है क्योंकि असीम तत्व की उपलब्धि से प्राप्त आनन्द शाश्वत तथा सघन होता है यह दर्शन इसी जीवन में जीवों को अलौकिक आनन्दानुभूति का मार्ग भी बताता है । जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त से एक ओर कर्म -फल-भोग के न्याय का निर्वाह हो जाता है तो दूसरी ओर इस संसार में जीवत्व के मूल कारण {अज्ञान} का उच्छेद होकर मुक्ति भी सम्भव होती है ।

सहायक ग्रन्थ-सूची

	ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशन
1-	अद्वैतसिद्धि	मधुसूदनसरस्वती	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1937
2-	अपरोक्षानुभूति	शङ्करस्वामिकृत	गीताप्रेस गोरखपुर
3-	अद्वैत वेदान्त	राममूर्ति शर्मा	नेशनलपब्लिशिंग हाउस 23,दरियागंज,दिल्ली-6
4-	अद्वैतसिद्धान्तमुक्तावली	प्रकाशानन्द	कलकत्ता, 1935
5-	इष्टसिद्धि	विमुक्तात्मा	
6-	ऐतरेयोपनिषद्	शङ्कराचार्यभाष्ययुक्त	गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2016
7-	कठोपनिषद्	शङ्कराचार्य	गीताप्रेस गोरखपुर, 2016 संवत्
8-	कठोपनिषद्	शाङ्करभाष्ययुक्त	आनन्दाश्रम,पूना
9-	केनोपनिषद्	शाङ्करभाष्ययुक्त	गीताप्रेस गोरखपुर, 2016 संवत्
10-	कल्याण	वेदान्त अङ्क	गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 1993
11-	छान्दोग्योपनिषद्	शाङ्करभाष्ययुक्त	गीताप्रेस गोरखपुर षष्ठ संस्करण संवत् 2028
12-	जीवन्मुक्तिविवेक	विद्यारण्य	
13-	तैत्तिरीयोपनिषद्	शाङ्करभाष्ययुक्त	गीताप्रेस गोरखपुर, संस्करण 14, संवत् 2040

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशन
14- नैष्कर्म्यसिद्धि	सुरेश्वराचार्य	मैसूर 1925
15- पञ्चदशी	विद्यारण्यस्वामी	संस्कृत संस्थान, ख्वाजा-कुतुब (वेदनगर) बरेली (उ0प्र0)
16- प्रश्नोपनिषद्	शाङ्करभाष्ययुक्त	गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2016
17- पञ्चपादिका विवरण	प्रकाशात्मा	कलकत्ता पब्लिकेशन, 1933 ई0
18- पञ्चपादिका विवरण	प्रकाशात्मा	मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियण्टल सीरीज, 1958
19- पञ्चपादिका	पद्मपादाचार्य	मद्रास गवर्नमेन्ट ओरियण्टल सीरीज, 1958
20- ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य	शङ्कराचार्य	गोविन्दमठ, टेढ़ी नीम, वाराणसी
21- ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य	शङ्कराचार्य	नि0सा0प्रे0बम्बई 1938
22- बृहदारण्यकोपनिषद्	शङ्कराचार्य	गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2025
23- बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिक	सुरेश्वराचार्य	
24- बिन्दु प्रपात	म0म0वासुदेव शास्त्री	पूना 1962
25- बृहदारण्यवार्तिकसार	विद्यारण्य	चौ0सं0 सी01919

	ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशन
26-	भामती	वाचस्पतिमिश्र	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
27-	भगवद्गीता	शाङ्करभाष्ययुक्त	गीताप्रेस गोरखपुर
28-	भगवद्गीता		गीताप्रेस गोरखपुर
29-	भामतीप्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन	डा0सत्यदेवशास्त्री	महावीर प्रेस,भेलूपुर वाराणसी
30-	भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-1	डा0एस एन दास गुप्त	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,जयपुर
31-	भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-2	डा0एस एन दासगुप्त	राजस्थानहिन्दी ग्रन्थ अकादमी,जयपुर
32-	भारतीय दर्शन भाग-2	डा0 राधाकृष्णन	
33-	मुण्डकोपनिषद्भाष्य (आनन्दगिरिटीका सहित)	शाङ्करभाष्य युक्त	वाणी विलास प्रेस वाराणसी
34-	मुण्डकोपनिषद्दीपिका	श्रीनारायण विरचित	
35-	माण्डूक्योपनिषद्	शाङ्करभाष्ययुक्त	गीताप्रेस गोरखपुर
36-	वेदान्त परिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र दीक्षित	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ संवत् 2011
37-	वेदान्तसार	सदानन्दयोगीन्द्र	चौखम्बा सं01954
38-	वेदान्तसार (डा0 सन्तनारायण श्रीवास्तव की हिन्दी टीका के साथ)	सदानन्द योगीन्द्र	सुदर्शन प्रकाशन, इलाहाबाद 1974

	ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशन
39-	विवरण प्रमेय संग्रह	विद्यारण्यस्वामी	अच्युतग्रन्थमाला, काशी घनश्यामदास जालान,
40-	विवेकचूडामणि	शङ्कराचार्यविरचित	गीताप्रेस गोरखपुर, संस्करण 8 वाँ
41-	विवेकचूडामणि	शङ्कराचार्य	वाणीविलास प्रेस, श्री रंगम्
42-	वेदान्तप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा	य. नारसप्पा	अध्यात्मा प्रकाश कार्यालय मैसूर
43-	वेदान्तकल्पतरु	अमलानन्द	नि०सा०प्रेस, बम्बई 1938
44-	वेदान्त -सुधा	शङ्कराचार्य रचित	गीता प्रेस गोरखपुर
45-	वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली		
46-	शङ्करसूक्ति सुधा	शाङ्कराचार्यविरचित	गीताप्रेस गोरखपुर
47-	श्वेताश्वतरोपनिषद्	शाङ्करभाष्ययुक्त	नि०सा०प्रेस, बम्बई 1934
48-	श्वेताश्वतरोपनिषद्	डा०तुलसारामशर्मा	चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
49-	शाङ्करवेदान्त तत्त्व-मीमांसा	डॉ०कालीप्रसाद सिंह	विश्वविद्यालयप्रकाशन, वाराणसी ।
50-	सिद्धान्तबिन्दु	मधुसूदनसरस्वती	आर्यसुधारक प्रेस, बड़ोदा
51-	सिद्धान्त बिन्दु	मधुसूदन सरस्वती	गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़
52-	सिद्धान्त बिन्दु	मधुसूदन सरस्वती	काशी सं०सीरीज़ पुस्तकमाला

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशन
53- सिद्धान्तलवसङ्ग्रह	अप्पयदीक्षित	विजयनगर संस्कृत सीरीज़
54- सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह	अप्पय दीक्षित	अच्युतग्रन्थमाला प्रकाशन, काशी ।
55- सर्वदर्शन सङ्ग्रह	माधवाचार्य	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1964
56- सङ्क्षेपशारीरक	सर्वज्ञात्ममुनि	काशी संस्कृत सीरीज़ नं० 18 भाग - 2
57- सूक्तिसुधाकर	शङ्कराचार्य	गीताप्रेस गोरखपुर